

भाषा विज्ञान की रूपरेखा

प्रो. योगेश चन्द्र दुबे

भाषा विज्ञान की रूपरेखा

भाषा विज्ञान की रूपरेखा

प्रो. योगेश चन्द्र दुबे
कुलपति
जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय
चित्रकूट (उ.प्र.)

निर्मल पब्लिकेशन्स
शाहदरा, दिल्ली

ISBN : 978-81-86400-278-8

प्रकाशक :

निर्मल पब्लिकेशन्स्
ए-139, गली नं. 3,
कबीर नगर, दिल्ली-110094
मोबाइल : 0-9350295129

प्रथम संस्करण : 2012

द्वितीय संस्करण : 2016

मूल्य : 295 रुपए

शब्दांकन :
अंकुर कम्प्यूटर्स
दिल्ली-110053

मुद्रक :
शिवानी आर्ट प्रैस, शाहदरा, दिल्ली-110032

Prof. Rajendra Mishra
M.A. D.Phil. (Alld.) D. Litt. (Shimla)
Ex. Vive-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varansi-221002 (U.P. INDIA)

Grams : "SHRUTAM"
Phones :
Office : (0542) 2204089
: (0542) 2204213
Resi. : (0542) 2206617

नान्दी वाक्

उन्नीसवीं शती ई. में, पाश्चात्य मनीषियों द्वारा संस्कृत का गहन अध्ययन करने के फलस्वरूप अनेक नये विषयों का उदय हुआ। नृवंशशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, पाण्डुलिपि विज्ञान एवं तुलनात्मक भाषाविज्ञान आदि उसी क्रम में आते हैं। ग्रिम, ग्रासमान एवं वर्नर ने अपने भाषानियमों से यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं का मूल उत्स, कभी-न-कभी एक रहा होगा। उसी भारोपीय भाषा परिवार से अनेक भाषाओं का उद्‌भव तथा विकास हुआ।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान उत्तरोत्तर लोकप्रियता की सीढ़ियाँ चढ़ता गया। आज वह सम्पूर्ण विश्व में सर्वाधिक मनपसन्द अध्येय विषय के रूप में प्रतिष्ठापित है।

परन्तु यह सोचना उचित नहीं है कि भाषाविज्ञान की जड़ें भारतीय वाङ्मय में नहीं थीं। प्रत्युत सत्य तो यह है कि शिक्षा, कल्प तथा व्याकरण–ये तीन वेदाङ्ग पूर्ण रूप से भाषा विज्ञान के ही विवेच्य-विषयों से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार यह विषय भारतीय आर्षप्रज्ञा का ही प्रसव माना जाना चाहिए।

ग्रिम, ग्रासमान, वर्नर के अनन्तर बुल्नर, टकर, टर्नर, जेस्पर्शन तथा चाम्सिकी सरीखे विद्वानों ने अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भाषा विज्ञान की व्याख्या की। डॉ. पी.डी. गुणे, डॉ. तारापुरवाला, डॉ. बाबूराम सक्सेना तथा डॉ. भोलानाथ तिवारी ने भी राष्ट्रभाषा हिन्दी में भाषा विज्ञान के प्रमेयों की विस्तृत व्याख्या की।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है यह देखकर कि अब डॉ. योगेश चन्द्र दुबे जैसे युवा विद्वान उसी शास्त्र की छात्रोपयोगी व्याख्या कर रहे हैं। डॉ. दुबे मेरे श्रेष्ठ शिष्य हैं। वह निष्ठावान अधीती, स्वाध्यायी तथा कर्मठ शिक्षक हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनके द्वारा लिखित 'भाषा विज्ञान की रूपरेखा' नामक यह ग्रन्थ लोकप्रिय सिद्ध होगा। हार्दिक आशीर्वाद सहित–

–अभिराज राजेन्द्र मिश्र

प्राक्कथन

भाषा विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। विश्व की सभी भाषाओं, इनकी शाखाओं, उपशाखाओं एवं बोलियों आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करना निःसन्देह अति व्यापक एवं श्रम साध्य है। अकेले भारतीय भाषाओं को ही यदि अध्ययन का विषय बनाया जाय तो वह भी अत्यन्त पर्याप्त है, तथापि इस स्थल पर भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक अध्ययन का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत करने का उद्योग किया जा रहा है। विदित है कि भारतीय भाषाओं का प्राचीनतम् रूप संस्कृत भाषा है। संस्कृत भाषा का काल मोटे तौर पर 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं—एक वैदिक संस्कृत जिसमें वैदिक वाङ्मय की रचना हुई तथा दूसरी लौकिक या क्लासिकल संस्कृत, जिसमें वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, भास, कालिदास तथा माघ आदि की रचनाएँ हैं। इस संस्कृत काल के अन्त तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी, किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर तीन बोलियाँ विकसित हो चली थीं, जिन्हें पश्चिमोत्तरी मध्यदेशीय तथा पूर्वीनाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होते-होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृत्तितः काफी बदल गयी जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गयी है। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रंथों में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गयी थी—पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी। पहली ईसवी तक आते-आते यह बोलचाल की भाषा और परिवर्तित हुई तथा पहली ईसवी से 500 ई. तक इसका रूप प्राकृत नाम से अभिहित किया गया। इस काल में क्षेत्रीय बोलियाँ कई थीं—जिनमें शौरसेनी, पैशाची व्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी और अर्द्धमागधी मुख्य थीं।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप में 500 ई. से 1000 ई. तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में मुख्यतः पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा रूप मिलते हैं, किन्तु प्राकृत के मुख्यतः पाँच क्षेत्रीय रूपों तथा आज की दस (लहँदा, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, हिन्दी,

उड़िया, बंगला, असमिया) आर्य भाषाओं के बीच अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह और दस के बीच में ही होगी यही अनुमान लगाया जा सकता है तथा वास्तविकता के भी अत्यन्त सन्निकट है।

वस्तुतः भारतीय भाषाओं के इसी क्रमिक विकास का अध्ययन तथा भाषा का स्वरूप, परिवर्तन, कारण वाक्य संरचना एवं अर्थ विज्ञान आदि का सम्यक संक्षिप्त भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ का वर्ण्य विषय है।

प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में स्नातक स्नातकोत्तर (संस्कृत, हिन्दी) की कक्षाओं में भाषा विज्ञान का एक प्रश्नपत्र अनिवार्यतः संचालित है। लगभग 10-11 वर्षों से भाषाविज्ञान की कक्षाओं में अध्यापन करते हुए ऐसा प्रतीत होता रहा है कि साहित्य के अधिकांश छात्र भाषा विज्ञान के प्रश्नपत्र को अत्यन्त शुष्क एवं उबाऊ अनुभव करते हैं। इसीलिए छात्रोपयोगी एवं परीक्षापयोगी करने तथा अध्ययन की दृष्टि से सरल, सहज एवं रोचक बनाने के लिए इस पुस्तक की आवश्यकता का अनुभव किया गया। यद्यपि भाषा विज्ञान मनीषियों डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. उदय नारायण तिवारी, डॉ. बाबू लाल सक्सेना एवं डॉ. कपिलदेव द्विवेदी की पुस्तकों के रहते भाषा विज्ञान की अन्य पुस्तकों की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि छात्रों को सरल एवं संक्षिप्त रूप में भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों को समझने के लिये इन्हीं मनीषियों के ग्रन्थों का सार **'भाषा विज्ञान की रूपरेखा'** के स्वरूप में प्रस्तुत एक छात्रोपयोगी प्रयास मात्र है। अंततः त्वदीयं वस्तुगोविन्द तुभ्यमेव समर्पये के अनुसार उक्त भाषा वैज्ञानिकों को नमन करते हुए परब्रह्म परमात्मा भगवान श्री सीताराम जी को सश्रद्ध समर्पित करता हूँ।

विद्वद्वंशवद्

प्रो. योगेश चन्द्र दुबे

विषयानुक्रमणिका

1

भाषा का स्वरूप एवं परिवर्तन

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के नाते उसे आपस में सर्वदा ही विचार-विनिमय करना पड़ता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने आपको प्रकट करता है तो कभी सिर हिलाने से उसका काम चल जाता है। समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में लोगों को निमंत्रित करने के लिए निमंत्रण-पत्र छपवाये जाते हैं तो देहात के अनपढ़ और निम्नवर्ग में निमंत्रित करने के लिए हल्की, सुपारी या इलायची बाँटना पर्याप्त समझा जाता है। रेलवे गार्ड और रेल-चालक का विचार-विनिमय झंडियों से होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करते हैं नैनन ही सों बात।' चोर अँधेरे में एक-दूसरे का हाथ छूकर या दबाकर अपने आपको प्रकट कर लिया करते हैं। इसी तरह हाथ से संकेत, करतल-ध्वनि, आँख टेढ़ी करना, मारना या दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना तथा गहरी साँस लेना आदि अपने प्रकार के साधनों से हमारे विचार-विनिमय का काम चलता है। ऐसे ही यदि पहले से निश्चित कर लिया जाये तो स्वाद या गंध द्वारा भी अपनी बात कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'यदि मैं कॉफी पिलाऊँ तो समझ जाना कि मेरे पास समय है, तुम्हारा काम करूँगा, किन्तु यदि चाय पिलाऊँ तो समझ जाना कि समय नहीं है, काम नहीं करूँगा', या 'यदि मेरे कमरे में गुलाब की अगरबत्ती जलती मिले तो समझना कि तुम्हारा काम हो गया है, किन्तु यदि चंदन की अगरबत्ती जलती मिले तो समझ जाना कि काम नहीं हुआ।' आशय यह कि गंध-इंद्रिय, स्वाद-इंद्रिय, स्पर्श-इंद्रिय, दृग-इंद्रिय तथा कर्ण-इंद्रिय इन पाँचों में किसी के भी माध्यम से अपनी बात कही जा सकती है। यों इनमें पहली तथा दूसरी का प्रयोग प्रायः नहीं होता, हाँ, किया जा सकता है, स्पर्श-इंद्रिय का भी प्रयोग कम ही होता है। इससे अधिक प्रयोग आँख का होता है, जैसे रेल का सिगनल, गार्ड की हरी या लाल झंडी, सिर हिलाकर 'हाँ' या 'नहीं'

करना, आदि। किन्तु इन सभी में सबसे अधिक प्रयोग कर्ण-इंद्रिय का होता है। अपनी सामान्य-बातचीत में हम इसी का प्रयोग करते हैं। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनकर विचार या भाव ग्रहण रहता है।

अभिव्यक्ति के उपर्युक्त पाँचों ही प्रकार के साधन भाषा हैं, किन्तु सामान्यतः भाषा का इतना विस्तृत अर्थ प्रायः नहीं लिया जाता।

परिभाषा

अपने व्यापकतम रूप से तो **'भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं',** किन्तु भाषाविज्ञान में हम जिस भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, वह इतनी व्यापक नहीं है। उसमें हम उन सभी साधनों को नहीं लेते जिनके द्वारा विचारों को व्यक्त करते हैं और न उसे लिया जाता है जिसके द्वारा हम सोचते हैं। भाषा उसे कहते हैं जो बोली और सुनी जाती है और बोलना भी पशु-पक्षियों का नहीं, गूँगे मनुष्यों का भी नहीं, केवल बोल सकने वाले मनुष्यों का।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं : 1. 'भाषा' धातु से बना है जिसका अर्थ है–'बोलना' या 'कहना'। अर्थात् 'भाषा' वह है जिसे बोला जाय।' 2. प्लेटो ने 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होंठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं। 3. स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है। 4. वेन्द्रिए कहते हैं, 'भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।' आधुनिक भाषा शास्त्रियों में अधिकांश ने भाषा की परिभाषा की परिभाषा लगभग एक-सी दी है। उदाहरणार्थ, 5. ब्लॉक तथा ट्रेगर, 6. सुत्वाँ, 7. विश्वकोशों में यों अच्छा हो कि परिभाषा पर पहुँचने के पूर्व भाषा-विषयक मूलभूत बातों पर विचार कर लें–

1. भाषा वक्ता के विचार को श्रोता तक पहुँचाती है, अर्थात् वह विचार-विनिमय का साधन होती है।
2. भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारणावयवों से निःसृत ध्वनि समष्टि होती है। इसका आशय यह है कि अन्य साधनों से अन्य प्रकार की ध्वनियों से भी विचार-विनिमय हो सकता है, किन्तु वे भाषा के अन्तर्गत नहीं आती।

3. भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-समष्टियाँ सार्थक तो होती हैं, किन्तु उनका भावों या विचारों से कोई सहजात सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध 'यादृच्छिक' या 'माना हुआ' होता है। इसीलिए भाषा में यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक होते हैं। इसका आशय यह है कि किसी ध्वनि-समष्टि या शब्द का जो अर्थ है, वह यों ही, बिना किसी तर्क, नियम या कारण आदि के मान लिया गया है। यदि यह सम्बन्ध सहजात, तर्कपूर्ण, स्वाभाविक या नियमित होता तो सभी भाषाओं में शब्दों का साम्य मिलता। अंग्रेज 'व्, आ, ट्, अ, र्' के योग को पानी समझता, तो इसका हिन्दी पर्याय भी लगभग यही होता। वह 'प्, आ, न्, ई' का योग न होता। इसी कारण एक ही वस्तु, भाव या विचार के लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्द मिलते हैं। इस प्रसंग में कभी-कभी एक प्रकार की शंका उठाई जाती है। वह शंका ध्वन्यात्मक शब्दों के बारे में है। लोगों की धारणा है कि यदि अन्य शब्दों में नहीं, तो कम से कम ध्वन्यात्मक शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि से अवश्य है। इसमें संदेह नहीं कि ध्वन्यात्मक शब्दों में, अर्थ का कुछ न कुछ सम्बन्ध ध्वनि से अवश्य है, किन्तु वह इतना अधिक नहीं है जितना प्रायः लोग मानते हैं। यदि यह सम्बन्ध पूर्ण होता तो सभी भाषाओं में 'तड़तड़ाहट' को 'तड़तड़ाहट' ही कहते। कुत्ते सारे संसार में प्रायः एक से भूँकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके भूँकने की ध्वनि के लिए प्रयुक्त शब्द सारी भाषाओं में एक या एक से होने चाहिये। किन्तु, तथ्य यह है कि इसके लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ, हिन्दी भों-भों या भौं-भौं, अंग्रेजी में बो-बो, फ्रांसीसी गाफ-गाफ, जापानी वोन-वान, रूसी गफ-गफ, उजबेक वोव-वोव, गुजराती भस-भस तथा तमिल कोल-कोल आदि। इसका अर्थ यह है कि एक ही ध्वनि के लिए विभिन्न भाषाओं में थोड़े बहुत अनुकरण का सहारा लेते हुए बिना किसी खास नियम या पूर्ण व्यवस्था के ही ये शब्द बना या मान लिये गये हैं। यही स्थिति सभी प्रकार के शब्दों के बारे में है। यदि शब्द या भाषा में प्रयुक्त ये सार्थक ध्वनि-समष्टियाँ यों ही मानी हुई या यादृच्छिक न होतीं तों संसार की सभी भाषाएँ लगभग एक-सी होतीं। हिन्दी का 'भाषा' शब्द अंग्रेजी में 'लैंग्विज' फारसी में 'जबान', रूसी में 'यजि क', जर्मन में 'स्प्रोख़े', अरबी में 'लिस्सान' तथा ग्रीक में 'लेइखेइन' न होता। यों इसमें संदेह नहीं कि इस यादृच्छिकता की अपनी सीमा होती है। ऐसा भी असम्भव नहीं कि अनेक शब्दों के निर्माण के समय निर्माणकर्ता के

मस्तिष्क में या उनके सामने कुछ ऐसे तत्त्व रहे हों जिन्होंने शब्द के बनाने में सहायता की हो। साथ ही भाषा के अस्तित्व में आ जाने के बाद ऐसे बहुत से शब्द बनते भी हैं जो यादृच्छिक न होकर साधार और सुचिंतित होते हैं।

इस प्रसंग में एक और बात भी ध्यान देने की है। भाषा में प्रतीक वस्तु का नहीं होता, उसकी 'मानसिक संकल्पना का होता है।

अर्थात्, प्रतीक का सीधा सम्बन्ध भौतिक वस्तु से नहीं होता। वह सम्बन्ध आरोपित है जिसे यहाँ बिन्दुओं से दिखाया गया है। भाषाभाषी के मस्तिष्क में भौतिक वस्तु की, मानसिक संकल्पना होती है और भाषिक, प्रतीक उसी संकल्पना का प्रतीक होता है। इन तीनों को क्रमशः 'संकेतित वस्तु', 'संकेतार्थ' तथा 'संकेत-प्रतीक शब्द, भी कह सकते हैं।' सम्बन्‍ ध तीन प्रकार के होते हैं–

1. भौतिक सम्बन्ध– जैसे आग और धुआँ में,
2. भावनात्मक सम्बन्ध–जैसे पूजा के फूल और श्रद्धाभाव में,
3. यादृच्छिक सम्बन्ध–यह भाषिक प्रतीकों और उसकी मानसिक संकल्पना में होता है। जैसे 'आग' की संकल्पना और 'आग' शब्द में। इसी आधार पर भौतिक प्रतीक, भावनात्मक प्रतीक तथा सादृच्छिक प्रतीक की चर्चा की जाती है।
4. भाषा एक 'व्यवस्था' होती है। उसके अपने नियम होते हैं जिससे उस भाषा के सभी बोलने वाले परिचित होते हैं। इसीलिए वक्ता जो कुछ कहता है, श्रोता वही समझता है। भूतकाल का वाक्य भूतकाल का ही समझा जाता है, भविष्यतकाल का नहीं। यदि गहराई से देखें तो भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था है। ध्वनि, शब्दरचना, वाक्यरचना सभी स्तरों पर उसमें व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी में ड़, ढ़ शब्द के प्रारम्भ में नहीं आते या ङ्, ञ् शब्द के आदि में और अंत में नहीं आते। यह ध्वनि-स्तर पर व्यवस्था है। वाक्य-स्तर पर हिन्दी में कर्ता. कर्म. क्रिया का क्रम होता है, किन्तु अंग्रेजी में कर्ता. कर्म का। यह वाक्य के स्तर पर व्यवस्था है। हिन्दी में तत्सम प्रत्यय विदेशी शब्द के साथ प्रायः नहीं आता। इसीलिए हिन्दी में 'दीनता' बनता है, 'गरीबता' नहीं बनता। यह शब्द-स्तर की व्यवस्था है। एक दृष्टि से भाषा में व्यवस्था दो प्रकार की होती है आन्तरिक और बाह्य। ऊपर भाषा की संरचना में ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ आदि के स्तर पर जो व्यवस्था की चर्चा की गई, वह भाषा के भीतर की अर्थात् आन्तरिक व्यवस्था है। बाह्य व्यवस्था भाषाभाषियों में इस

रूप में होती है कि किसी भाषाभाषी समुदाय के एक सदस्य के लिए किसी वस्तु-प्रतीक का जो सम्बन्ध होता है दूसरों के लिए भी वही सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए, सभी हिन्दी भाषियों के मस्तिष्क में 'पुस्तक' वस्तु का एक ही प्रत्यय या बिंब होता है जो 'पुस्तक' प्रतीक से व्यक्त होता है। इस तरह एक भाषा के सभी भाषियों में वस्तु-बिंब-प्रतीक की दृष्टि से सहमति होती है। यदि ऐसा न हो तो वक्ता 'पुस्तक' कहे और श्रोता कॉपी, कागज या कुछ और समझे। यह है भाषा की बाह्य व्यवस्था जो भाषा को समाज में बोधगम्य बनाती है।

5. भाषा का प्रयोग समाज-विशेष में होता है और उसी में वह बोली और समझी जाती है।

तथापि भाषागत सम्पूर्ण विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भाषा की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—**भाषा, उच्चारण-अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।**

अभी कहा गया है कि 'भाषा उच्चारण-अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग विचार-विनिमय करते हैं। यदि इसमें 'भाषा के प्रकार्य को जोड़ दें' तथा 'व्यवस्था' को गहराई से देखें और मानव भाषा को दृष्टि में रखें तो निम्नांकित बातें इस परिभाषा में जोड़ी जा सकती हैं—(क) भाषा विचार-विनिमय का साधन तो है ही, साथ ही कोई व्यक्ति चाहता है तो भाषा के माध्यम से अपने विचारों तथा अनुभवों को लेख, कविता, पुस्तक आदि में व्यक्त भी करता है। (ख) यही नहीं, किसी व्यक्ति के भाषा-प्रयोग के आधार पर उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर पर तथा व्यक्तित्व के विषय में भी काफी कुछ पता सुनने वाले को भाषा से चल जाता है। (ग) जिसे प्रतीकों की व्यवस्था कहा गया है, वह तत्त्वतः 'प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था' होती है। अर्थात्, भाषिक व्यवस्था के भीतर संरचना के स्तर होते हैं जो कई होते हैं। जैसे ध्वनि-स्तर, वाक्य स्तर आदि। (घ) जिस भाषा की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह मानव-भाषा है, अतः उसे 'मानव-उच्चारणावयवों से उच्चारित' कहना अधिक सही है, अन्यथा सभी जीव-जन्तुओं की उच्चरित भाषा इसके अन्तर्गत आ जायेगी जो यहाँ अपेक्षित नहीं है। तो भाषा की अधिक व्यवस्थित और सर्वांगसमावेशी परिभाषा हुई—

भाषा मानव-उच्चारणावयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचार-विनिमय करते हैं, लेखक, कवि या वक्ता रूप में अपने अनुभवों एवं

भावों आदि को व्यक्त करते हैं तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता के सम्बन्ध में जाने-अनजाने जानकारी देते हैं।

भाषा के अभिलक्षण

यहाँ 'भाषा' से आशय है 'मनुष्य की भाषा' तथा 'अभिलक्षण' से आशय है 'विशेषता' या 'मूलभूत लक्षण'। किसी भी वस्तु के अभिलक्षण ही उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलगाते हैं। इस तरह मानव-भाषा के अभिलक्षण वे हैं जो उसे अन्य सभी प्राणियों की भाषाओं से पृथक् करते हैं।

ध्यातव्य है कि भाषा केवल मनुष्यों की ही बपौती नहीं मकड़ी, मधुमक्खी, गिबन, सिकिलबैक तथा चिम्पैंजी आदि अनेक ऐसे जीव-जन्तु हैं जो किसी-न-किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि मनुष्य की भाषा, अन्य सभी जीवों की भाषा से स्पष्टतः अलग है, उसके अपने कुछ ऐसे अभिलक्षण हैं जो सभी मिलकर उसे अन्य सभी प्राणियों की भाषाओं से अलग करते हैं। अर्थात् इन अभिलक्षणों में कुछ तो अन्य जीवों की भाषाओं में मिलते हैं, किन्तु सभी केवल मानव-भाषा में। हॉकिट इस प्रसंग में सात अभिलक्षणों का उल्लेख करते हैं। कुछ अन्य लोगों ने इससे कुछ कम या कुछ अधिक अभिलक्षणों का उल्लेख किया है। मुख्य अभिलक्षण निम्नांकित हैं–

1. हमारी भाषा में किसी वस्तु या भाव का किसी शब्द से सहज-स्वाभाविक या तर्कपूर्ण सम्बन्ध नहीं है, वह समाज की इच्छानुसार मात्र माना हुआ सम्बन्ध है। यदि सहज-स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो सभी भाषाओं में एक वस्तु के लिए एक ही शब्द होता। 'पानी' के लिए सभी भाषाएँ 'पानी' का ही प्रयोग करतीं। अंग्रेजी 'वाटर' का प्रयोग न करती, न फारसी 'आब' का और न रूसी 'वदा' का। विभिन्न भाषाओं के सभी शब्दों में हम यह **यादृच्छिकता** पाते हैं। यह यादृच्छिकता शब्द के स्तर पर थी। व्याकरण के स्तर पर रूप-रचना तथा वाक्य रचना में भी यही बात है। अंग्रेजी कर्ता कारक के लिए किसी भी कारक चिह्न का प्रयोग नहीं करती। किन्तु हिन्दी 'ने' का प्रयोग करती है। ऐसे ही हिन्दी में वाक्य में कर्ता-कर्म-क्रिया का क्रम है तो अंग्रेजी में कर्ता-क्रिया-कर्म का। इस तरह ये सारी बातें यादृच्छिक हैं। कहीं भी इनके पीछे तर्क है–न शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में, न रूप-रचना में और न वाक्य के पदक्रम या अन्वय आदि में। यही भाषा की यादृच्छिकता। यों यादृच्छिकता थोड़ी-बहुत तो अन्य प्राणियों की भाषा में भी मिलती है, किन्तु मानव-भाषा जितनी नहीं।

2. भाषा में शब्द और रूप तो प्रायः सीमित होते हैं, किन्तु उन्हीं के आधार पर हम अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सादृश्य के आधार पर नित्य नये-नये असीमित वाक्यों का सृजन करके उनका प्रयोग करते हैं। हम ऐसे अनेकानेक वाक्यों का रोज ही प्रयोग करते हैं, जो ठीक उसी रूप में पहले कभी भी नहीं प्रयुक्त हुए। मजे की बात यह है कि वाक्यों के नए होने पर भी, श्रोता को उन्हें समझने में कोई भी कठिनाई नहीं होती। यह कमाल इस **सृजनात्मकता** का ही है जो वक्ता और श्रोता दोनों ही की भाषिक क्षमता में होती है और उसी के परिणामस्वरूप वक्ता नित्य नए-नए वाक्य का प्रयोग कर लेता है और श्रोता उन्हें समझ लेता है। हम 'मैं', 'वह', 'तुम', बुलवाना' इन चार शब्दों से बहुत सारे वाक्यों का सृजन कर सकते हैं, जैसे 'मैंने उसे तुमसे बुलवाया', 'मैंने तुम्हें उससे बुलवाया', 'उसने मुझे तुमसे बुलवाया' तथा 'उसने तुम्हें मुझसे बुलवाया', आदि। किन्तु अन्य जीव-जन्तु अपनी भाषा में इस तरह सृजन नहीं कर सकते। वे तो जैसा जानते हैं, उसको वैसे ही दुहरा भर सकते हैं। मधुमक्खी एकमात्र अपवाद है जिसकी भाषा में यह गुण थोड़ा-बहुत होता है, किन्तु मानव-भाषा जितना नहीं। इस अभिलक्षण को उत्पादकता भी कहा गया है।

3. मानव-भाषा समाज-विशेष से अनुकरण द्वारा सीखी या ग्रहण की जाती है। जन्म से कोई भी व्यक्ति कोई भाषा नहीं जानता माँ के पेट से कोई भी बच्चा भाषा सीखकर नहीं आता, किन्तु अन्य सभी जीव-जन्तु अपनी भाषा अपने समाज से नहीं सीखते, बल्कि उनकी अपनी भाषिक क्षमता उनमें जन्मजात होती है। **अनुकरणग्राह्यता** के कारण ही एक व्यक्ति अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाएँ भी अनुकरण से सीख सकता है, किन्तु कोई अन्य जीव-जन्तु ऐसा नहीं कर सकता। इस तरह मानव-भाषा आनुवंशिक नहीं होती, जैसी कि अन्य जीव-जन्तुओं की भाषाएँ होती हैं। भाषा के इस अभिलक्षण को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा गया है : सांस्कृतिक प्रेषणीयता क्योंकि संस्कृति परम्परा या रूढ़ि के रूप में भाषा सीखी जाती है, सीखने के योग्य होना या अधिगम्यता-क्योंकि भाषा सीखी जा सकती है।

4. मानवेतर जीवों की भाषा परिवर्तनशील नहीं होती। उदाहरणार्थ, कुत्ते पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही प्रकार की अपरिवर्तित भाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं, किन्तु मानव-भाषा हमेशा परिवर्तित होती रहती है। संस्कृत काल

का कर्म प्राकृत-काल में 'कम्म' हो गया तो आधुनिक काल में 'काम'। इस तरह चिर **परिवर्तनशीलता** भी मानव-भाषा को अन्य जीवों की भाषाओं से अलगाती है। इस अन्तर का मुख्य कारण इस मानव-भाषा का अनुकरणग्राह्य होना है, जबकि अन्य भाषाएँ आनुवांशिक होती हैं।

5. मानव-भाषा का स्वरूप ऐसा नहीं है जो पूरा अविच्छिन्न रूप से एक हो। वह तत्त्वतः कई घटकों या इकाइयों में विभाज्य है। उदाहरण के लिए 'वाक्य' एकाधिक 'शब्दों' से बनता है तथा 'शब्द' एकाधिक 'ध्वनियों' से। यह बहुघटकता, विच्छिन्नता, विविक्तता या कई इकाइयों से विभाज्यता अन्य जीवों की भाषा में नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, बहुत से नर जीव यदि मादा को यह बतलाना चाहते हैं कि वे कामोत्तेजित हैं तो एक विशिष्ट प्रकार का ध्वनि-संकेत करते हैं जो मानव द्वारा प्रयुक्त वाक्यादि जैसा नहीं होता, जो विभिन्न शब्दों से बना हो। वह पूरा-पूरा अविच्छिन्न रूप से एक ही इकाई होता है। यदि उसके ध्वनि-संकेत को टुकड़ों में विभक्त भी करें, तो वे उस रूप में सार्थक नहीं होते, जैसे मानव-भाषा के वाक्य के शब्द। इस तरह एकाधिक इकाइयों से बना होना या **विविक्तता** केवल मानव-भाषा का ही अभिलक्षण है।

6. भाषा में किसी भी वाक्य या उच्चार को लें, उसमें दो स्तर होते हैं। एक स्तर की इकाइयाँ सार्थक होती हैं तथा दूसरे स्तर की इकाइयाँ निरर्थक होती हैं। इन दो स्तरों की स्थिति को ही **द्वैतता** कहते हैं। इन इकाइयों में सार्थक इकाइयों को रूपित करते हैं। उदाहरण के लिए, 'बंदर ने फल तोड़े' वाक्य में बंदऱनेफल़तोड़ए ये पाँच सार्थक इकाइयाँ हैं। दूसरे स्तर की इकाइयाँ वे ध्वनियाँ हैं जिनसे ये सार्थक इकाइयाँ बनी हैं। उदाहरणार्थ 'बंदर' में ब्अ़न्द्अ़र् ये छह ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु ये आपस में मिलकर, भाषा में सार्थक इकाइयों का निर्माण करती हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि ये ध्वनियाँ अपने आपमें निरर्थक होती हैं किन्तु ये अर्थभेदक होती हैं। उदाहरण के लिए, 'क' और 'घ' ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं है, किन्तु 'कोड़ा' और 'घोड़ा' में अर्थ का भेद या अन्तर 'क' और 'घ' के कारण ही है। इस तरह यहाँ 'क'–'घ' ध्वनियाँ अर्थभेदक हैं। पहले स्तर की इकाइयों को 'रूपिम' कहा गया है, उसी तरह दूसरे स्तर की इकाइयों को भाषा विज्ञान में स्वनिम कहते हैं जिन्हें यहाँ सरलता के लिए 'ध्वनि' कहा गया है। इस द्वैतता को 'अभिरचना की द्वैतता' भी कहते हैं, अर्थात् भाषा में एक साथ दो स्तरों

पर अभिरचनाएँ होती हैं। अर्थद्योतक या विचारद्योतक इकाइयों के स्तर पर तथा अर्थभेदक इकाइयों के स्तर पर। इस तरह भाषा इन दो स्तरों पर पाई जाने वाली अभिरचनाओं के योग का परिणाम होती है। अभिरचना उस विशिष्ट क्रम तथा व्यवस्था वाले स्वरूप या साँचे को कहते हैं जो भाषा में उपर्युक्त दोनों स्तरों पर पाए जाते हैं। यह अभिलक्षण भी प्रायः केवल मानव-भाषा में उपर्युक्त दोनों स्तरों पर पाये जाते हैं। यह अभिलक्षण भी प्रायः केवल मानव-भाषा में ही मिलता है। यों अपवादतः मधुमक्खियों की भाषा में भी यह थोड़ा-बहुत होता है।

7. जब हम बातचीत करते हैं तो वक्ता-श्रोता की भूमिकाएँ बदलती रहती हैं। वक्ता बोलता है तो श्रोता सुनता है, फिर जब श्रोता उत्तर देता है या अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो वह वक्ता बन जाता है और तब प्रथम वक्ता श्रोता हो जाता है। यही है **भूमिकाओं की अदला-बदली** या उनका क्रम-परिवर्तन या उनकी परस्पर परिवर्तनीयता। यों अनेक मानवेतर प्राणियों की भाषाओं में भी यह अभिलक्षण मिलता है, पर थोड़ी देर तक बहुत लंबा नहीं। साथ ही कुछ प्राणियों में सभी में नहीं।

कुछ अपवादों को छोड़कर मानवेतर जीवों की भाषा केवल वर्तमान के विषय में सूचना दे सकती हैं, भूत या भविष्य के विषय में नहीं। इसके विपरीत मानव-भाषा वर्तमान काल में प्रयुक्त होते हुए भी भूत तथा भविष्य के विषय में भी कहने में समर्थ है। इस तरह मानव-भाषा कालांतरण कर सकती है। ऐसे ही मानवेतर भाषा प्रायः उसी स्थान या उसके आसपास के बारे में सूचना दे सकती है जहाँ भाषा-व्यापार हो रहा है, दूर के स्थान के विषय में नहीं।

भाषा की विशेषताएँ

1. **भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है**—कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैतृक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है। किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग 12 वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले

उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िये-जैसी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी भेड़िये से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूँगा नहीं था।

2. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है**–ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इस प्रकार भेड़िये का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका, और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आस-पास के लोगों से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैतृक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।

3. **भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है**–ऊपर हम भाषा को अर्जित कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है? इसका एक मात्र उत्तर है 'समाज से।' इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका विकास समाज में ही होता है, और इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।

4. **भाषा परम्परा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है उसे उत्पन्न नहीं कर सकता**–भाषा परम्परा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा।

5. **भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है**–ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एक समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण द्वारा' सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

6. **भाषा चिरपरिवर्तनशील है**—यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिये। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं होती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक' न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं—1. शारीरिक और 2. मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ-न-कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

7. **भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है**—जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अन्तिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अन्तिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अन्तिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य हैं, भाषा के विषय में असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

8. **प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है**—हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णतः भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

9. **प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है**—भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात्, प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारम्भ होकर इतिहास के निश्चित

काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की परवर्ती या पूर्ववर्ती भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवी से 500 ई. तक माना जाता है। इस कड़ी में इसके पूर्व पालि भाषा थी, तथा इसके बाद अपभ्रंश, और ये दोनों भाषाएँ प्राकृत से भिन्न हैं।

10. **प्रत्येक भाषा की अपनी संरचना अलग होती है**—दूसरे शब्दों में किन्हीं भी दो धातुओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर अवश्य होता है। यही अन्तर उनकी अलग या स्वतंत्र सत्ता का कारण बनता है।

11. **भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है**—सभी भाषाओं के इतिहास में भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम-से-कम प्रयास में अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब यह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' से सम्बन्धित है। किन्तु, व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है, किन्तु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं और अपवाद कम हो गये हैं, और आगे भी कम होते जा रहे हैं। भाषा पानी की धारा है जो स्वभावतः ऊँचाई से नीचे की ओर जाती है।

12. **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है**—वस्तुतः प्रारम्भ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की है। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास होता रहा है और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ और प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धान्त तो है, किन्तु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी, किन्तु संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

13. **भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**—पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग से संयोग की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है। किन्तु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति, जैसे—'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे—'राम जाता है'। संस्कृत में केवल 'गच्छति' से काम चल जाता था, पर हिन्दी में 'जाता है' का प्रयोग करना पड़ता है।

14. **हर भाषा का स्पष्टतः या अस्पष्टतः एक मानव रूप होता है**—'भाषा की परिभाषा' में कुछ अल्प विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

भाषा परिवर्तन और उसके कारण

भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा चिरपरिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों—ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य में होता है। इन परिवर्तनों के कारण और उसके रूपों या दिशाओं पर अच्छी प्रकार विचार, इन पाँचों से सम्बद्ध विस्तृत चर्चा में अलग-अलग किया जा सकता है। यहाँ संक्षेप में केवल कुछ सामान्य बातें ही कही जा रही हैं।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी-न-किसी रूप में विचार किया गया है। शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पतंजलि, कैयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति डैनिश विद्वान् जे. एच. ब्रेडसडॉर्फ हैं। इन्होंने 1821 में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के 7-8 कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

भाषा में विकास जिन कारणों से होता है, उन्हें प्रमुखतः दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक आभ्यंतर और दूसरा बाह्य। आभ्यंतर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं

जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण भीतरी, आन्तरिक या आभ्यंतर कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के लोगों को 'बाहरी' या 'बाह्य' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्व के कारण सादृश्य पर अलग से विचार किया गया है।

आभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है–

प्रयोग से घिर जाना–अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजों की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गयीं।

बल–जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है, या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है।

प्रयत्न-लाघव–भाषा में विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे महत्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के 90 प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इस पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

आदमी कम-से-कम प्रयास से अधिक-से-अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतों में भी लोगों की वही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम-से-कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम-से-कम प्रयास, या प्रयत्न-लाघव के प्रयास में ही शब्दों को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, 'बीबीजी' का बीजी, गोपेन्द्र का गोबिन, गृद्ध का गिद्ध तथा अलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो का उच्चारण नो, क्नाइफ का नाइफ तथा टाल्क का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिए कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते हैं, जैसे 'कब ही' से कभी, 'जब ही' से जभी 'हास्तिनृ मृग' से 'हस्ती' फिर 'हाथी' या बोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', 'पंडित जी' का पंडी जी' 'जैराम जी की' का 'जैरम,' 'मार डाला' का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्णा से कन्हैया, स्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, ग्रहण से

गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि, संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी.एम., एन.टी, भारत या सुदी आदि भी प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही किया जाता है।

प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमें स्वर-लोप, व्यंजन-लोप, अक्षर-लोप स्वरागम, व्यंजनागम, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण, तथा स्वतः अनुनासिकता तथा कुछ अन्य प्रमुख हैं। प्रयत्न-लाघव के अन्तर्गत आने वाले इन प्रधान तथा अन्य और प्रकारों का विस्तृत और सोदाहरण अध्ययन 'ध्वनिविज्ञान' अध्याय के अन्तर्गत है।

बोलने वालों के **मानसिक स्तर** में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है, विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है, पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

अनुकरण की अपूर्णता—इस वर्ग का अन्तिम कारण है। स्पष्ट है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा, जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्रायः अपूर्ण होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप में समझ कर किया जाता है। होता यह है कि अनुकरण में अनुकर्ता (क) कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा (ख) कुछ को अपनी ओर से अनजाने ही जोड़ देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ-भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इसी छोड़ने और जोड़ने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है।

पीढ़ी-परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यों अन्य कारण भी काम करते हैं, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक-दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ-दस पीढ़ी की भाषा की आठ-दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं, तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है, और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गयी है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

शारीरिक विभिन्नता—ध्वनियों का उच्चारण अंगों के सहारे कहते हैं और सब उच्चारण-अंग एक-से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नहीं हो पाता। सामान्यतः इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नहीं चलता, पर कई पीढ़ी बाद जो परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उनमें निश्चय ही इसका भी कुछ-न-कुछ हाथ रहता है।

ध्यान की कमी—इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस-बीस पीढ़ी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

अशिक्षा—अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स, ष का स, ण का न तथा झ का च्छ या छ आदि मुख-सुख या प्रयत्न लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। विदेशी शब्द सामान्य जनता में अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, डाक्टर का 'डागडर', जमाना का 'जमाना', एंजिन या 'इंजन' या 'अंजन', मोहताज का 'मुस्ताज', लाइब्रेरी का 'लाबरेली, रिपोर्ट का 'रपट', गार्ड का 'गारद', ड्रिल का 'दलेल', इन्सपेक्टर का 'इसपट्टर', लार्ड का 'लाट', टाइम का 'टेम', सिगनल का 'सिंगल', दर्ख्वास्त का 'दरखास', मास्टर का 'महटर' या 'महट्टर', कानूनगो का 'कानुनगोह', प्लाटून का 'पलटन', ज्वाइन का 'जौन', तथा काजी हाउस का 'काजीहौद' आदि देखे जा सकते हैं।

जानबूझकर परिवर्तन—भाषा में, कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलेक्जैंडर' का अलक्षेन्द्र कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफियून' का 'अहिफेन' या तुर्की 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान-बूझकर किसी मिलते-जुलते शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा हो उस नये अर्थ में चल पड़ता है। जैसे 'ट्रैजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमेडी'। अभिव्यक्ति में चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरंकुश प्रयोग भी भाषा में इस प्रकार के परिवर्तन ला देता है।

जातीय मनोवृत्ति—हर जाति की अपनी मनोवृत्ति होती है, और भाषा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। यही कारण है कि एक ही भाषा दो या दो से अधिक जातियों में प्रचलित होकर दो या अधिक प्रकार से विकसित या परिवर्तित होती है।

एक जातीय मिश्रण ग्रिम नियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का कारण बना, दूसरा दूसरे का।

बाह्य वर्ग

भौतिक वातावरण—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है।

1. गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।
2. मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते हैं, अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर, पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाओं या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाड़ों पर बोली थोड़ी-थोड़ी दूरी पर थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के किनारों की बोली में भी इसी कारण कुछ अन्तर दिखाई देता है। ग्रीस में ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गयी।
3. भूमि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अतः उन लोगों की भाषा में, अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे, अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायेगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

सांस्कृतिक प्रभाव—संस्कृति समाज का प्राण है, अतः इसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

1. सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती हैं, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा

पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं कि कहने की आवश्यकता नहीं।

2. महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट रूप में प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुम आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गाँधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।
3. व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो **संस्कृतियों का सम्मिलन** होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम-से-कम पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं–
   1. आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।
   2. द्रविड़ों और आर्यों का।
   3. आर्यों और यवनों का
   4. भारतीयों और मुसलमानों का।
   5. भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं–

जैसे शब्दों की लेन-देन-आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द हैं। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि, द्रविड़ों के तीर, आलि, मीन आदि यवनों के होड़ा, दाम, सुरंग आदि तुर्कों एवं मुसलमानों के पायजामा, बाजार, दूकान, कागज, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया, रजाई आदि तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी, हाकी, टेनिस, कॉलर, टाई, प्रेंसिल, बटन, फ्रेम, डिगी, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन, निब, कोट, कलक्टर तथा पेन, आदि हजारों प्रचलित हैं। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हजार से कम न होगी।

मूल योरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, पर भारत में आने पर कदाचित् द्रविड़ों के प्रभाव से आर्यभाषा में ये **ध्वनियाँ आ गईं** और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में मुसलमानों तथा अंग्रेजों के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं जैसे क , ज , ग , ख़, फ तथा ऑ।

वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी इसी दृष्टि से फारसी, अंग्रेजी आदि

से पर्याप्त प्रभावित है। 'पानी-पानी होना' मूलतः 'फारसी' 'आब-आब शुदन' का अनुवाद है तो कार्य रूप में 'परिणत करना'।

विचार-विनिमय के कारण एक-दूसरे का साहित्य, कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा अछूती नहीं रहती।

सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशान्ति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम-फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रान्ति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करें। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। आधुनिक काल में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गये हैं। हम कृ.प.उ. लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए का काम चला लेते हैं, पूरा नाम न कह कर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी.आई.डी., वी.सी., डी.एम. नेफा, पेप्सू तथा यूनेस्को आदि भी इसी प्रकार के संक्षिप्त रूप हैं।

बोलने वालों की उन्नति वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में होती है तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नयी उन्नति के अनुरूप नयी अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नयी चीजें-मशीन, वस्त्र, खाना, मनोरंजन आदि आ जाते या आविष्कृत हो जाते हैं, तो उनके लिए नये शब्द आ जाते हैं। भारत इधर दिन-पर-दिन उन्नति करता जा रहा है, अतः उसकी भाषाओं में बड़ी तेजी से नये शब्द आते जा रहे हैं। यदि कोई देश उसके उल्टे बहुत अवनति करने लगे और खाने को मुहताज हो जाये तो अत्यधिक आराम की बहुत-सी चीजें लुप्त हो जायेंगी, और यदि स्थिति बदली नहीं तो उनके प्रसंग में प्रयुक्त शब्द भी लुप्त हो जायेंगे।

सादृश्य

कहते हैं खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। इसी प्रकार भाषा में भी शब्द या वाक्य दूसरे शब्द या वाक्य की सदृशता पर उसी प्रकार के बन जाते हैं। इस प्रकार इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन में बहुत बड़ा योगदान है। इसे उपर्युक्त आभ्यन्तर और बाह्य किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यह दोनों में आता है। आज की हिन्दी की वाक्य रचना बहुत से लेखकों में अंग्रेजी के सादृश्य पर मिलती है। यह बाह्य है। दूसरी ओर 'पाश्चात्य' के सादृश्य पर 'पौर्वात्य शब्द चल रहा है, 'एकादश' द्वादश के सादृश्य पर 'एकादश' हो गया है, या 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' 'सर्गुण' या 'सर्गुन' हो गया है। यह आभ्यतर है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

भाषा के विकास के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह कह देनी आवश्यक है कि

भाषा के विकास का आशय यह नहीं कि भाषा, और अच्छी या ऊँची होती जाती है। विकास का अर्थ केवल आगे बढ़ना या परिवर्तन है। परिवर्तन से भाषा अभिव्यंजना-शक्ति, माधुरी तथा ओज आदि की दृष्टि से भी उठ सकती है और नीचे भी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह प्रायः सरलता की ओर जाती है।

भाषा-परिवर्तन की दिशाएँ

परिवर्तन इस सृष्टि का नियम है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है, और भाषा भी उसका अपवाद नहीं। भाषा का प्रयोक्ता मनुष्य और उसका समाज परिवर्तित होता रहता है और उसके साथ-साथ उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। भाषा के पाँच अंग हैं :

(क) ध्वनि, (ख) शब्द, (ग) रूप, (घ) वाक्य, (ङ) अर्थ। यही पाँच प्रमुख अंग ही भाषा परिवर्तन की प्रमुख पाँच दिशाएँ हैं।

भाषा परिवर्तन इन्हीं पाँचों स्तर पर होता है, जिन्हें ध्वनि-परिवर्तन, शब्द समूह परिवर्तन, रूप रचना परिवर्तन, वाक्य रचना-परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन कहते हैं। इस प्रसंग में इन पाँच के अतिरिक्त दो और का भी उल्लेख किया जा सकता है। एक है स्वन प्रक्रिया-परिवर्तन जो ध्वनियों के ही अध्ययन में आता है तथा दूसरा है रूप प्रक्रिया-परिवर्तन जो रूपों में होता है। इस तरह सामान्यतः कुल सात प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यों लिपि में भी परिवर्तन होता है, किन्तु लिपि भाषा का अंग नहीं है, अतः उसे यहाँ नहीं लिया जा रहा है।

स्वरूप

जहाँ तक भाषा में परिवर्तन के स्वरूप का प्रश्न है, वह प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग होता है, यही नहीं, ध्वनि-परिवर्तन तथा स्वन प्रक्रिया-परिवर्तन या रूप रचना-परिवर्तन और रूप प्रक्रिया-परिवर्तन का भी स्वरूप एक नहीं है, अतः सभी को अलग-अलग शीर्षकों में लिया जा रहा है।

ध्वनि-परिवर्तन—ध्वनि-परिवर्तन से आशय है किसी ध्वनि का बदलकर कुछ-से-कुछ हो जाना जैसे 'घोटक' से 'घोड़ा' बनने में 'ट' परिवर्तित होकर 'ड़' हो गया है या 'दधि' से 'दही' बनने में 'ध' परिवर्तित होकर 'ह' हो गया है। ध्वनि-परिवर्तन को स्वरूप के आधार पर मुख्यतः निम्नांकित नौ वर्गों में रखा जा सकता है—

लोप

लोप से आशय है ध्वनि शब्द में पहले से हो, उसका लुप्त हो जाना। जैसे 'सप्त' से 'सात' बनने में 'प' का लोप हो गया है। लोप कई प्रकार के होते हैं—

स्वर-लोप : आदि स्वर-लोप- अभ्यंतर-भीतर, एकादश-ग्यारह। **मध्य**

स्वर-लोप—उच्चारण में 'लगभग' का 'लगभग', 'कपड़ा' का 'कपड़ा' तथा 'गमला' का 'गमूला' हो गया है। इन सभी में मध्य स्वर लोप है। **अंत्य स्वर-लोप**—आप, तुम, हम, सब आदि उच्चारण में आप, तुम, तथा सब् हो गये हैं, अर्थात् अन्तिम 'अ' इनमें से निकल गया है।

व्यंजन-लोप : आदि व्यंजन-लोप—स्थाली-थाली, हास्पिटल-अस्पताल, स्कंध-कन्धा। मध्य व्यंजन-लोप-सप्त-साँप, कोकिल-कोयल। अंत्य व्यंजन-लोप-बम, कमाना।

आगम

'आगम' से आशय है किसी ऐसी ध्वनि का आ जाना जो पहले से शब्द में न हो। उदाहरण के लिए 'सूर्य' 'सूरज' में 'र' के बाद 'अ' आ गया है तो 'डजन' से 'दर्जन' में 'र' आ गया है। आगम कई प्रकार का होता है।

स्वरागम : आदि स्वरागम—यूनानी लातोन-अफ़लातून, स्नान-अवधी-अस्नान। स्कूल, स्टेशन, स्टूल, स्प्रिंग को काफी लोग इस्कूल, इस्टेशन, इस्टूल, इस्प्रिंग बोलते हैं। मध्य स्वरागम—सूर्य-सूरज, पूर्व-पूरब। अंत्य स्वरागम-दवा-दवाई।

व्यंजनागम : आदि व्यंजनागम—ओष्ठ-होंठ, अस्थी-हड्डी, अंसलि-हंसली। मध्य व्यंजनागम—शाप-श्राप, पण-प्रण, समुद्र-समुन्दर।

विपर्यय

विपर्यय से आशय है किसी शब्द में दो ध्वनियों का एक-दूसरे के स्थान पर चले जाना। उदाहरण के लिए 'चिह्न' का 'चिन्ह' में 'ह' और 'न' में विपर्यय हो गया। विपर्यय कई प्रकार का होता है।

1. **पाश्ववर्ती विपर्यय**—पास-पास की ध्वनियों में विपर्यय, जैसे चिह्न-चिन्ह, ब्रह्म-ब्रम्ह, ब्राह्मण-ब्राम्हन।
2. **दूरवर्ती-विपर्य**—वाराणसी-बनारस, लखनऊ-नखनऊ।
3. **आद्यशब्दांश विपर्यय**—कभी-कभी दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है, जैसे घोड़ागाड़ी का गोड़ा-घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत-सी पड़ जाती है। ऑक्सफोर्ड के डॉ. डब्ल्यू ए. स्पूनर से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनारिज्म कहते हैं। हिन्दी में उदाहरण के लिए 'कड़ी किताब', चाल दावल' आदि लिये जा सकते हैं। किसी से पूछा आपकी घड़ी में क्या बजा है? उत्तर था—चौ बजकर ना लिस मिनट।

समीकरण

कभी-कभी किसी शब्द में दो पास-पास की असमान ध्वनियाँ समान हो जाती हैं। यह प्रवृत्ति भाषा परिवर्तन में समीकरण कहलाती है। समीकरण दो प्रकार का होता है–

1. **पुरोगामी समीकरण**–इसमें कोई ध्वनि आगे बढ़कर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे चक्र-चक्की, पत्र-पत्ता।
2. **पश्चगामी समीकरण**–इसमें कोई ध्वनि पीछे जाकर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे–धर्म-धम्म, शर्करा-शक्कर।

स्वतः अनुनासिकता

कभी-कभी किसी शब्द में किसी नासिक् व्यंजन से अनुनासिकता का विकास होता है जिसे सकारण अनुनासिकता की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे कम्पन काँपना या चन्द्र-चाँद। इसके विपरीत कभी-कभी बिना किसी नासिका व्यंजन के भी अनुनासिकता का विकास हो जाता है, जिसे स्वतः अनुनासिकता कहते हैं। उदाहरणार्थ : सर्प-साँप, श्वास-साँस, भ्रू-भौं।

ह्रस्वीकरण

दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना। जैसे आसाढ़-असाढ़, आभीर-अहीर, आगस्ट-अगस्त।

दीर्घीकरण

ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना। जैसे सप्त-सात, दुग्ध-दूध, अष्ट-आठ।

घोषीकरण

अघोष व्यंजन का घोस हो जाना। जैसे–शाक-साग, कंकण-कंगन, घोटक-घोड़ा।

महाप्राणीकरण

अल्प-प्राण व्यंजन का महाप्राण हो जाना। जैसे शुष्क-सूखा, हस्त-हाथ, परशु-फरसा।

कारण–ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतः निम्नांकित कारणों से होता है–

ध्वनियों का परिवेश–कभी-कभी आस-पास की ध्वनियों के कारण कोई ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए नासिका व्यंजन के पास होने पर मौखिक स्वर अनुनासिक हो जाते हैं। इसीलिए 'हनुमान' का उच्चारण 'हनुमांन' तथा 'कान' का कांन होता है। ऐसे ही यदि किसी अघोष व्यंजन के दोनों ओर घोष ध्वनि हो तो ऐसा कई बार देखा जाता है कि अघोष व्यंजन घोष हो जाता है। जैसे 'शाक' का 'साग'।

मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव–यदि कोई संयुक्त व्यंजन उच्चारण में कठिन

हो तो उच्चारण में मुख के सुख के लिए या बोलने के प्रयत्न में आसानी के लिए या तो उसका एक व्यंजन लुप्त कर देते हैं या क्रम बदल देते हैं।

भ्रामक व्युत्पत्ति–कभी-कभी जनता किसी अपरिचित शब्द को अपना परिचित शब्द मानकर बैठती है और उस नये शब्द का उच्चारण अपने परिचित शब्द के रूप में करने लगती है। इसे अंग्रेजी में पापुलर इथामोलॉजी नाम दिया गया, उसी का अनुवाद भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति है। आशय यह है कि लोग दोनों शब्दों को एक या व्युत्पत्तितः एक मानने की गलती कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'क्रिसमस डे' का 'किसमिस डे', 'बाहलूगंज' का 'बालूगंज, 'हीराकुंद' का 'हीराकुंड', का सैंसठ-पैंसठ, 'प्लीट का 'प्लेट' आदि।

सादृश्य–कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। 'पैंतिस' के सादृश्य पर 'सैंतिस' में अनुनासिकता आ गयी है। संस्कृत में 'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकादश' भी एकादश हो गया। मुझ का उकार तुझ के सादृश्य से है। ऐसे ही देहात से 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहर' से 'शहराती' हो गया है।

लेखन–लेखन के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में गुप्त, मित्र आदि लिखने में अन्त में ए लिखने का प्रभाव पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मित्रा, मिश्रा आदि कहने लगे हैं, आपितु हिन्दी में भी वही लिखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर लोग 'बुद्ध' और 'बुद्ध' और 'अशोक' के स्थान पर बुद्धा और का भी प्रयोग करते सुने जाते हैं।

स्वनक्रिया परिवर्तन

जैसा कि हमने देखा, ध्वनि-परिवर्तन में किसी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है किन्तु स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन में भाषा की स्वनिम व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में स, श, ष तीन अलग-अलग स्वनिम थे। प्राकृतों में आकर परिवर्तन हुआ। कुछ प्राकृतों में तो ये तीनों रहे, किन्तु एक तरफ मागधी में केवल एक 'श' रहा, तो दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत में केवल 'स' रहा। इस तरह मागधी में भी कुछ स्वनिमों में दो की कमी हो गयी तथा शौरसेनी में भी। अर्थात् इन दोनों की स्वन-व्यवस्था में बदलाव आया। इसी तरह 1920 के आस-पास हिन्दी में बहुत सारे शब्द अपने लगभग मूलरूप में फारसी तथा अंग्रेजी से आये तो सुशिक्षित हिन्दी-भाषियों की हिन्दी की स्वनिम-व्यवस्था बदली क्योंकि छः नये स्वनिम क ख़ ग़ फ ऑ उसमें आ गये। कहना न होगा इन छहों में न्यूनतम विरोधी युग्म हिन्दी में उपलब्ध हैं–ताक झ ताक , खाना झ ख़ाना, बाग झ बाग , राज झ राज , फन झ फ ऩ काफी झ काम ी।

इधर स्वतन्त्रता के बाद जब से हिन्दी वालों के लिए उर्दू अनिवार्य विषय नहीं रही, क़ का प्रयोग समाप्त सा हो गया तथा अब इन छः में केवल ख़, ग़, ज़, फ़, ही स्वनिमिक हैं तथा इनमें भी लगता है कि आगे चलकर केवल ज़ तथा फ़ ही रह जाएँगे, क्योंकि ये फारसी तथा अंग्रेजी दोनों शब्दों में भी हैं।

इस तरह स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन मुख्यतः दो रूपों में होता है–

(क) पुराने स्वनिम का लोप

(ख) नये स्वनिम का आगम यों यदि गहराई से देखें तो कुछ और प्रकार के परिवर्तन भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत के स्वरमध्यम 'ड'; हिन्दी में आकर 'ड़' हो गये। घोटक-घोड़ा, घोटिकाघोड़ी, घटिकाघड़ी। इस तरह संस्कृत में जहाँ 'ड' का मुख्य उपस्वन 'ड' ही था, वहाँ हिन्दी 'ड' भी हो गया–

ड़् स्वरों के मध्य में तथा शब्दांत में

ड् अन्यत्र

अब यदि अंग्रेजी के सोडा, रोड, रेडियो जैसे शब्दों को हिन्दी का अंग मान लें तो घोड़ा-सोडा, मोड़-रोड जैसे शब्द उपन्यूतम विरोधी युग्म हैं, इस तरह 'ड' को हिन्दी का अलग स्वनिम मानने की स्थिति आ गई है।

रूप-परिवर्तन

भाषाओं में रूप-रचना में भी परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि ध्वनि-परिवर्तन तथा शब्द समूह-परिवर्तन की तुलना में यह कम होता है। उदाहरण के लिए 1950 तक 'मुझे', तथा 'मुझको', 'तुझे' तथा 'तुझको' जैसे रूप ही चलते थे, अब 'मेरे को', 'तेरे को' जैसे रूप भी काफी चलने लगे हैं, यद्यपि अभी ऐसे रूपों को मानक का दर्जा नहीं दिया गया है। ऐसे ही पहले 'गाय' के बहुवचन गायें की तरह 'इन्द्रियों' से इन्द्रियों रूप चलता था, अब इन्द्रियाँ चलने लगा है तथा 'इन्द्रियों' का प्रयोग समाप्त हो गया है।

स्वरूप की दृष्टि से रूप परिवर्तन मुख्यतः निम्नांकित प्रकारों का होता है–

1. रूप बनाने वाले पुराने रूपिम के स्थान पर नए रूपिम का प्रयोग। जैसे संस्कृत–'म्' के स्थान पर हिन्दी में 'को' या 'स्य' के स्थान पर 'का' का प्रयोग।
2. पुराने मूल के स्थान पर नए मूल का प्रयोग। उदाहरण के लिए पहले 'मुझको' चलता था, अब नई पीढ़ी में 'मेरे को' सुनने में आता है। यहाँ 'मुझ' के स्थान पर 'मेरे' आ गया है। संबंधद्योतक 'को' ज्यों-का-त्यों है।

ऐसे ही पहले-पहल 'कीजिए' चलता था अब 'करिए' भी चलता है। इसमें 'इए' प्रत्यय तो ज्यों-का-त्यों है, 'कीज्' के स्थान पर 'कर्' आ गया है।

3. मूल तथा प्रत्यय दोनों में परिवर्तन। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में गो का भूतकाल का रूप पहले गोड तथा वेन्ड का वेन्ट। अब गो का गोड के स्थान पर भूतकाल वेन्ट मान लिया गया है, इस तरह रूपपरिवर्तन हो गया है।
4. अतिरिक्त रूपिम का प्रयोग। उदाहरण के लिए 'दर असल' का अर्थ है 'असल में', अर्थात् 'दर' में अर्थ का वाचक है। जो लोग इस बात से परिचित नहीं हैं वे 'दर असल में' का प्रयोग करते हैं। इस तरह 'दर' के ही अर्थ में 'में' एक अतिरिक्त रूपिम आ गया है।

कारण

1. ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण जब विभक्ति घिसकर लुप्त हो जाती है तो अर्थ की स्पष्टता के लिए नई विभक्ति या परसर्ग जोड़े जाते हैं। इस तरह रूपिम में परिवर्तन हो जाता है। 'रामस्य' के स्थान पर 'राम का' ऐसे ही आया है।
2. भाषा में रूपावली में जितनी कमी हो, भाषा उतनी ही सरलता की ओर जाती थी। पहले 'मैं', 'मुझ', 'मेर्' ये तीन रूप उत्तम पुरुष एकवचन में थे। अब 'मुझ' का लोप करके केवल दो से काम चलाया जाने लगा है : मैं मेर् इस तरह सरलता की प्रवृत्ति ऐसे परिवर्तनों के पीछे काम करती है।
3. अपवादन : कभी-कभी जब किसी एक रूप के मूल का लोप हो जाता है तथा दूसरे समानार्थी मूल के किसी रूप का लोप हो जाता है और भाषा इन दोनों असंबद्ध को संबद्ध मान लेती है तो भी रूप-परिवर्तन दृष्टिगत होता है। वेन्ड तथा गोड के अंग्रेजी से लुप्त होने पर भी गो का भूतकालिक रूप वेन्ट मान लिया गया जबकि मूलतः इसका भूतकालिक रूप गोड था।
4. कभी-कभी जब जनता किसी रूपिम का अर्थ नहीं जानतीं तथा उस अर्थ में नया रूपिम जोड़कर प्रयोग करना शुरू कर देती है तो भी रूपपरिवर्तन हो जाता है। 'दर असल' के स्थान पर 'दर असल में' 'दर हकीकत' के स्थान पर 'दर हकीकत में' ऐसे ही उदाहरण हैं।

रूपप्रक्रिया-परिवर्तन

हिन्दी में 'स्वनप्रक्रिया' का प्रयोग किसी भाषा की स्वनिमों तथा उपस्वनों की व्यवस्था के लिए अंग्रेजी 'फेनालजी' के अर्थ में चलता है। उसी आधार पर यहाँ रूपिमों तथा उपरूपों की व्यवस्था के लिए 'रूप प्रक्रिया' शब्द का प्रयोग किया जा

रहा है। संस्कृत से हिन्दी के विकास पर दृष्टि डालें तो रूपप्रक्रिया-परिवर्तन का एक रोचक उदाहरण मिलता है। संस्कृत में 'जाना' अर्थ में 'या' और 'गम्' दो धातुएँ थीं। हिन्दी के गया, गई, गए रूप संस्कृत 'गम्' के रूप से ही विकसित हैं तथा जाता आदि 'या' के रूप से। अब हिन्दी में एक ही धातु 'जा' से ये सभी रूप बने माने जाते हैं। इस तरह मूल व्यवस्था बदल गयी है। ऐसे ही अंग्रेजों में गो का भूतकाल का रूप वेन्ट माना जाता है, जबकि वास्तविक यह है कि अंग्रेजी की एक पुरानी धातु वेन्ड का भूतकाल है। यह वेन्ड धातु अब प्रयोग में ही है। ऐसे ही पहले हिन्दी उत्तम पुरुष एकवचन के रूप में, मुझ, मेरे इन तीन पर आधारित थे, अब नई पीढ़ी में मेर् से ही सभी रूप बनने लगे हैं तथा 'उसके' रूप हिन्दी सर्वनाम की रूप व्यवस्था से निकलते जा रहे हैं।

स्पष्ट ही ऐसे परिवर्तनों का कारण कुछ का लोप है। एक में कल्पित धातु 'ग' जिससे मूलतः 'गया' बना है का लोप हो गया है तो दूसरे में वेन्ड का तथा तीसरे में 'मुझ' का। ऐसे ही 'तुझ' के लोप से तेरे को, तेरे से जैसे रूपिमों का विकास हो गया है।

वाक्य रचना-परिवर्तन

जैसे भाषा में ध्वनि शब्दसमूह तथा रूपरचना आदि में परिवर्तन होता है, उसी तरह उसकी वाक्य-रचना भी परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि हिन्दी-भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत से विकसित हुई है, किन्तु हिन्दी वाक्य-रचना से कई बातों में भिन्न है, इस तरह धीरे-धीरे भाषा की वाक्य-रचना परिवर्तित हुई है। जैसे हिन्दी में 'और' का प्रयोग दो संज्ञाओं आदि के बीच में होता है, परन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। उसमें या तो 'च' दूसरे के अंत में आता है या दोनों के बीच में भी और अंत में भी। इस तरह 'और' युक्त वाक्यों की रचना में बदलाव आया है। स्वरूप की दृष्टि से किसी भाषा की वाक्य-रचना में परिवर्तन कई प्रकार का होता है, जिनमें से कुछ मुख्य निम्नांकित हैं--

अन्वय परिवर्तन

कभी-कभी ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ भाषा की अन्वय-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी का विकास प्राकृतों के माध्यम से संस्कृत से हुआ है, किन्तु संस्कृत भाषा की अन्वय-व्यवस्था से हिन्दी की अन्वय-व्यवस्था बहुत भिन्न है। जैसे संस्कृत में सभी विशेषणों और उनके विशेष्यों में व्याकरणिक एकरूपता होती है, किन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता है। ऐसे ही कर्ता और क्रिया में हिन्दी में लिंग की दृष्टि से भी व्याकरणिक एकरूपता होती है, किन्तु संस्कृत में

दोनों के लिए एक ही क्रिया और गच्छति, सीता आती है। हिन्दी में इस सदी के मध्य तक स्त्रियाँ और लड़कियाँ कहती रही हैं 'हम लोग जा रही हैं', अब कहने लगी हैं, 'हम लोग जा रहे हैं।' मध्यकाल से हिन्दी में एकवचन के स्थान पर आदर औपचारिकता के लिए बहुवचन का प्रयोग ही अन्वय-परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। यह परिवर्तन संज्ञा, सर्वनाम, विशेष क्रिया और क्रियाविशेषण सभी को प्रभावित करता है–

(क) किसान का छोटा बेटा दौड़ता है।

(ख) मुख्यमंत्री के छोटे बेटे दौडते आये।

(ग) उसे बुलाओ।

(घ) उन्हें बुलाओ।

पदक्रम में परिवर्तन

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समय के अन्तराल से वाक्य में पदों का क्रम बदल जाता है। हिन्दी में कर्ता पहले आता है, कर्म उसके बाद तथा क्रिया अन्त में, किन्तु संस्कृत में ऐसा कुछ निश्चित नहीं था। इस प्रकार संस्कृत भाषा की पदक्रम-व्यवस्था हिन्दी तक आते-आते बदल गई है। वस्तुतः सामान्यतः संयोगात्मक भाषाओं में पदक्रम में काफी छूट रहती है, किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा वियोगात्मक होती जाती है, उसके वाक्यों में पदक्रम निश्चित-सा हो जाता है। अंग्रेजी में भी यही स्थिति है, यद्यपि जर्मनिक जिससे अंग्रेजी का विकास हुआ, बहुत निश्चित पदक्रम वाली भाषा नहीं थी।

पुरुष में परिवर्तन

वाक्य-रचना में कभी-कभी पुरुष की दृष्टि से भी परिवर्तन होता देखा गया है। उदाहरण के लिए हिन्दी में प्रयोग चलता रहा है।

राम ने कहा, मैं जाऊँगा। अंग्रेजी के प्रभाव से अब कुछ लोग प्रयोग करने लगे हैं–राम ने कहा कि वह जाएगा। यह 'मैं' का 'वह' तथा 'जाऊँगा' का 'जाएगा' में पुरुष-परिवर्तन स्पष्ट है।

लोप– सुविधा के लिए धीरे-धीरे प्रायः सभी भाषाओं के वाक्यों में ऐसे घटक लुप्त हो जाते हैं जिनके बिना अर्थ की दृष्टि से वाक्य में अस्पष्टता आने का भय नहीं रहता। नीचे 'क' पुरानी हिन्दी के वाक्य हैं तथा 'ख' आधुनिक हिन्दी के–

(क) राम नहीं आता है।

(ख) राम नहीं जाता।

(ग) राम नहीं जा रहा है।

(घ) राम नहीं जा रहा।

(ङ) आँखों से देखी घटना।

(च) आँखों देखी घटना।

(छ) कानों से सुनी बात।

(ज) कानों सुनी बात।

कहना न होगा कि मोटे पाइप के 'है' तथा 'से' अब लुप्त हो गये हैं।

आगम—कभी-कभी वाक्य में कुछ ऐसे शब्दों का आगम हो जाता है जो पहले न अपेक्षित थे न प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए पहले प्रयोग चलता था—राम ने कहा—मैं जाऊँगा।

फ ारसी में ऐसी रचना में 'कि' का प्रयोग होता है, उसके प्रभाव से अब कहते हैं—राम ने कहा कि मैं जाऊँगा, राम ने कहा कि वह जायेगा।

यहाँ 'कि' का आगम हो गया है।

ऐसे ही आइए, आइएगा जैसे रूपों में आदर सूचकता है, किन्तु अब अंग्रेजी प्लीज के प्रभाव से 'कृपया', 'कृपा करके', 'मेहरबानी करके' जैसे पद या पदबंध जोड़े जाने लगे हैं—'कृपया आइए', 'मेहरबानी करके आइएगा।

कारण

वाक्य रचना में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित तीन हैं—

ध्वनि परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन के कारण रूपों से संबंध तत्त्वों का प्रायः लोप होता रहता है, जिसके कारण रूपों में अस्पष्टता आ जाती है तथा उसे बचाने के लिए भाषा-भाषी तरह-तरह के तरीके अपनाते हैं जिसके कारण रूप-रचना तथा वाक्य-रचना दोनों में परिवर्तन होता है। हिन्दी या अंग्रेजी आदि वियोगात्मक भाषाओं में वाक्य में पदों के क्रम की निश्चितता इसी का परिणाम है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव

इसके कारण भी किसी भाषा की वाक्य-रचना में परिवर्तन आता है। पीछे हम देख चुके हैं कि हिन्दी पर मध्यकाल में फ़ारसी तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है तथा 'कि' और अप्रत्यक्ष कथन के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी की वाक्य-रचना प्रभावित हुई है।

उच्चारण सुविधा

उच्चारण की सुविधा परिवर्तन की जननी तो होती ही है, यह वाक्य रचना में भी परिवर्तन की जननी होती है। वस्तुतः कम-से-कम प्रयास से बोलना हमारे लिए स्वभाविक ही है। यदि इसके कारण एक ओर 'चिन्ह' का उच्चारण 'चिह्न' हो गया तो दूसरी ओर 'संयुक्त विधायक दल' से 'संविद' या 'आंतरिक सुरक्षा कानून' का आंसुका भी इसी कारण हुआ है। शब्द जितना छोटा होता है, उसके उच्चारण में उतनी ही सुविधा होती है। लिखने में 'कृपया पृष्ठ उलटिए' कृ.प.उ. भी इसलिए लिखा जाता है। इसी प्रकार वाक्य जितना छोटा होता है, उसका उच्चारण उतना ही सुविधाजनक होता है। इसीलिए हम भरसक छोटे से छोटा वाक्य प्रयुक्त करना चाहते हैं। बातचीत में प्रायः इसी उद्देश्य से छोटे वाक्यों का प्रयोग चला होगा। यदि पुराना रूप रहा होगा–

राम–तुम्हारा क्या नाम है?

मोहन–मेरा नाम मोहन है। तुम्हारा क्या नाम है?

राम–मेरा नाम राम है। तुम कहाँ के रहने वाले हो?

मोहन–मैं हरियाणा का रहने वाला हूँ। और तुम कहाँ के रहने वाले हो?

राम–मैं उत्तर प्रदेश का हूँ।

तो नया रूप है–

राम–तुम्हारा नाम?

मोहन–मोहन, और तुम्हारा?

राम–राम। तुम कहाँ के हो?

मोहन–हरियाणा का। और तुम?

राम–उत्तर प्रदेश का।

कहना न होगा कि ऊपर के रूप में रेखांकित अंश रूप में छोड़ गए हैं। ऊपर स्वरूप के प्रसंग में लोप के अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार के हैं।

अर्थ परिवर्तन–(द्रष्टव्य–अर्थविज्ञान सिद्धान्त)

भाषा परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ

भाषा-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ यों तो प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होती हैं। उदाहरण के लिए मध्यकाल में फारसी से काफी शब्द हिन्दी में आये तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी से भी आये और इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी की स्वनियों में छः की वृद्धि हो गयी : क , ख़, ग , ज , फ , ऑ। किन्तु इस प्रकार शब्द भारत की

अन्य भाषाओं में भी आये हैं, यद्यपि किसी में यह छः नये स्वनिम नहीं बढ़े हैं। यों प्रत्येक भाषा के इस तरह के परिवर्तन की विशिष्ट प्रवृत्तियों के बावजूद कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी होती हैं, जिन्हें भाषा-परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है। यहाँ उनमें कुछ प्रमुख को लिया जा रहा है।

सरलीकरण— प्रायः भाषा परिवर्तन के प्रवाह में पड़कर कई दृष्टियों से सरल होती जाती है। उदाहरण के लिए उच्चारण की दृष्टि से 'चन्द्र' का चान्द, कम्पन का काँपना, दुग्ध का दूध, क्नो का नो, प्साइकालजी का साइकालजी इसी कहानी को दुहरा रहे हैं। इन सभी में परिवर्तन के कारण संयुक्त व्यंजन के स्थान पर मूल व्यंजन शेष रह गये हैं जिनसे उच्चारण में आसानी हो गई। ऐसे ही कभी-कभी विपर्यय से भी उच्चारण सरल हो जाता है। चिन्ह का चिह्न, ब्राह्मण का 'ब्राह्मण'। बड़े शब्द का छोटा रह जाना या बड़े वाक्य की तुलना में छोटे के प्रयोग में भी सरलता की ही प्रवृत्ति दीखती है।

वियोगात्मकता—संयोगात्मक भाषाएँ धीरे-धीरे परिवर्तन के कारण वियोगात्मक होती जाती हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत 'रामस्य' के स्थान पर हिन्दी 'राम का', 'पर्वते' के स्थान पर 'पर्वत पर', या 'रामः गच्छति' के स्थान पर 'राम जाता है' के प्रयोग में यही प्रवृत्ति दीखती है।

पुरानी अनेक भाषाओं जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन में द्विवचन भी थे, किन्तु उनके स्थान पर उन्हीं से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में द्विवचन के संयोगात्मक रूप अब नहीं रहे तथा उनके स्थान पर वियोगात्मक रूपों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'बालकौ' के स्थान पर हिन्दी में 'दो बालक' या 'घोटकौ' के स्थान पर 'दो घोड़े'। इस तरह वियोगात्मकता भी उल्लेख्य प्रवृत्ति है।

पृथकीकरण—परिवर्तन से भाषा के पृथक्-पृथक् रूप विकसित होते जाते हैं। उदाहरण के लिए परिवर्तन से ही संस्कृत से धीरे-धीरे पाँच-छः प्राकृतें विकसित हुईं तथा उनसे फिर धीरे-धीरे सात आठ आधुनिक आर्य भाषाएँ—हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला, असमी। इस तरह किसी भी भाषा में परिवर्तन होते-होते उसकी कई बोलियाँ विकसित हो जाती हैं तथा फिर धीरे-धीरे बोलियाँ अलग-अलग भाषाएँ बन जाती हैं। इस रूप में विश्व में भाषाओं के परिवार वस्तुतः परिवर्तन के ही परिणाम हैं। आज मूलतः लगभग तेरह-चौदह मूल भाषाओं से विश्व में कुल लगभग तीन हज़ार भाषाएँ, भाषा परिवर्तन के कारण ही विकसित हुई हैं।

विशदीकरण—प्रायः शब्द-समूह के क्षेत्र में परिवर्तन से एक तरफ तो पुराने

शब्द लुप्त होते हैं, दूसरी ओर नये शब्द आते हैं। इनमें लुप्त होने वाले शब्द तो थोड़े होते हैं तथा आने वाले शब्द ज्यादा। हिन्दी का शब्द भंडार 1930-40 के आस-पास साठ-सत्तर हजार था। अब यदि सभी विषयों को मिलाकर देखें तो हिन्दी दो लाख से ऊपर शब्दों का प्रयोग कर रही है। इस तरह भाषा के शब्द-भंडार में विशदता आती जाती है। वस्तुतः चूँकि प्रायः सभी भाषा-भाषियों की आभिव्यक्तिक आवश्यकताएँ धीरे-धीरे बढ़ती हैं। अतः उनके अनुरूप भाषा में नये शब्दों के आगमन तथा नई-नई प्रयुक्तियों के विकास से विशदता आती जाती है।

2

पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का विकास

प्राकृतभाषा (मध्यकालीन आर्य भाषा)

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जनभाषा पर आधारित, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा के दो रूप, साहित्य में प्रयुक्त हुए। दूसरे रूप लौकिक संस्कृत को पाणिनि ने अपने व्याकरण में जकड़कर उसे सदा सर्वदा के लिए एक रूप दे दिया, किन्तु जनभाषा भला इस बन्धन को कहां मानती? वह अबाधगति से परिवर्तित होती रही, बढ़ती रही। इस जनभाषा के मध्यकालीन रूप को ही 'मध्यकालीन आर्यभाषा' की संज्ञा दी गई है। इसका काल मोटे रुप से 500 ई. पू. से 1000 ई0 तक का, अर्थात् हजार वर्षों का है। कुछ लोग इसे 600 ई. पू. से 1100 या 1200 तक भी मानते हैं, यद्यपि सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह बहुत समीचीन नहीं लगता।

मध्यकालीन आर्य भाषा को प्राकृत भी कहा गया है। प्राकृत शब्द के सम्बन्ध में दो मत हैं :

(1) कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति 'प्राक् कृत' अर्थात 'पहले की बनी हुई' या 'पहले की हुई' मानते हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत 'नैसर्गिक' 'प्रकृत' या अकृत्रिम भाषा है और इसके विपरीत संस्कृत कृत्रिम या संस्कार की हुई भाषा है। नेमिसाधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में लिखा है–'प्राकृतेति, सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिमिर-नाहतसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवः सेव व प्राकृतम्'। इस रूप में प्रकृत पुरानी भाषा है, और संस्कृत उसका संस्कार करके बनाई हुई बाद की भाषा। ग्रियर्सन ने इसी को प्राइमरी प्राकृत कहा है। इसका अर्थ यह है कि इस अर्थ में प्राकृत शब्द का प्रयोग उस जनभाषा के लिए है, जो वैदिक एवं संस्कृत काल में जनभाषा थीं और जिसका कुछ परिनिष्ठित एवं पंडितों द्वारा मान्य रूप वैदिक है, एवं

परवर्ती काल में जिसका सुसंस्कृत साहित्यिक रूप 'संस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप संस्कृत की जननी है। वाक्यतिराज ने 'गउडबहो' में कहा है–

जैसे जल सागर में प्रवेश करता है और सागर से ही निकलता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत में ही प्रवेश करती हैं, और प्राकृत से ही निकली हैं।

(2) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति और ढंग से करते हैं, जैसे–

1. **प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते** (प्रकृति या मूल संस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत करते हैं)– मार्कण्डेय।
2. **प्रकृते, संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता** (प्रकृत संस्कृत की विकृति प्राकृत है)–लक्ष्मीधर।
3. **प्रकृतिः संस्कृतम्।** तत्र भवं तत आगर्त्त वा प्राकृतम् (प्रकृति या मूल संस्कृत है, और संस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)–हेमचन्द्र।
4. **प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्** (प्रकृत संस्कृत से निकली प्राकृत है)– सिंहदेवमणि।
5. **संस्कृत रुपायाः प्रकृतेः उत्पन्नत्वात्** (प्रकृत से उत्पन्न प्राकृत) प्रेमचन्द्र तर्कवागीश।
6. **प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनिः** (प्राकृत की जननी संस्कृत है।)– वासुदेव।

इनका आशय यह है कि प्राकृत संस्कृत से ही उत्पन्न है। यहाँ हम देखते हैं कि दोनों मत एक दूसरे के विरोधी हैं। एक प्राकृत से संस्कृत का जन्म मानता है, तो दूसरा संस्कृत से प्राकृत का जन्म। वस्तुतः, अपने-अपने स्थान पर दोनों ही मत ठीक हैं। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप संस्कृत है, दूसरे शब्दों में जिससे संस्कृत उत्पन्न है, तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत संस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम संस्कृतकालीन जनभाषा को भी संस्कृत ही कहें–जो मूलतः वही था, केवल संस्कृत साहित्य भाषा थी, और वह जनभाषा, तो दूसरा मत सही है, क्योंकि 5000 ई. पू. से 1000 ई. तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अर्थात् उसी से निकली है। अब प्रायः इसी भाषा को प्राकृत कहते हैं, अतः इसे अर्थात् प्राकृत को हम संस्कृत से उत्पन्न मान सकते हैं। हाँ, यह बात ध्यान में रखने की है, कि यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक संस्कृत से उद्भूत नहीं है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है।

इन 1500 वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है–

1. प्रथम प्राकृत (1500 ई. पू. से 1 ई. तक)

2. द्वितीय प्राकृत (1 ई. 500 ई. तक)

3. तृतीय प्राकृत (500 ई. 1000 ई. तक)

प्रथम प्राकृत

इसमें पालि तथा अभिलेखी प्राकृत आती है–

पालि भाषा– पालि बौद्ध धर्म (विशेषतः दक्षिणी बौद्धों) की भाषा है। इसे 'मागधी' या 'देश भाषा' भी कहा गया है। मोटे रूप से इसका काल 5वीं सदी ई. पू. से पहली सदी तक है। यों कुछ लोगों ने इसका काल छठी सदी ई. पू. से दूसरी सदी ई. पू. तक भी माना है। कुछ इसका आरम्भ दूसरी सदी ई. पू. से भी मानते हैं। 'पालि' नाम–'पालि' शब्द की व्युत्पति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। पालि शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अर्थ में नहीं मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग चौथी सदी में लंका में लिखित ग्रन्थ 'दीपवंस' से हुआ है। वहां इसका अर्थ 'बुद्धवचन' है। तब से काफी बाद तक पालि शब्द का प्रयोग पालि साहित्य में हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नहीं। सिंहल के लोग इसे अब भी मगधी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरू में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझकर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्ति प्रमुखतः दो प्रकार की है। एक तो वे हैं, जिनमें 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रखा गया है, और दूसरी वे हैं, जिनमें अन्य आधार लिए गये हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है–

(1) श्री विधु शेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध संस्कृत 'पंक्ति' (पन्ति-पत्ति-पद्धि-पल्लि-पालि) से है। शुरू में बुद्ध की पंक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ और बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। किन्तु 'पंक्ति' से 'पालि' हो जाना तत्कालीन ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुकूल नहीं है।

(2) एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द पल्लि का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा'। 'पल्लि' की 'पालि' बन तो सकता है, किन्तु यह प्रवृत्ति पालि काल के बहुत बाद में मिलती है।

(3) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है (भण्डारकर तथा वाकरनागल मानते हैं) इसीलिए शायद इसे 'प्राकृत नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (पाकट-पाअड-पाअल-पालि)।

(4) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पालू' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशों को सुरक्षित रखा है इसीलिए यह नाम पड़ा है।

(5) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' में 'लि' (णिच) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। 'अत्थान पाति रक्खतीति तस्मात् पालि' किन्तु यह भी कल्पना की दौड़ मात्र है।

(6) एक अन्य मत से 'प्रालेय' या 'प्रालयक' (पड़ोसी) से पालि का संबंध है।

(7) भिक्षु सिद्धार्थ सं. 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध वचन) इसे पाठ-पालि-पाळ-पालि में संस्कृत 'उ' का 'ळ' हो जाता है। निकला मानते हैं।

(8) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति अर्थ का बोधक एक संस्कृत शब्द मानते हैं। इनके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पंक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिए फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा।

(9) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का सम्बन्ध संस्कृत प्रकट (पाअड़ झ पाअल झ पालि) से भी जोड़ने के पक्ष में हैं।

(10) डॉ. मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। किन्तु पालि वहां की भाषा नहीं थी।

(11) सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश द्वारा दी गयी है। प्रायः बहुत से भारी विद्वान् इससे सहमत हैं। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाय' (सं. पर्याय) से है। 'धम्म-परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास परम्परा परियाय पलियाय पालि है।

'पालि भाषा का प्रदेश'—यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी। इस प्रश्न पर प्रायः दो दर्जन विद्वानों ने विचार दिये हैं, जिनमें कुछ प्रमुख मत निम्नांकित हैं–

(1) श्रीलंका के बौद्धों की यह धारणा है कि यह मगध की बोली थी। इसीलिए वे लोग 'पालि' को मगधी भी कहते हैं। पालि ग्रन्थों में मूल 'भाषा' के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है। सा मगधी मूल भाषा नरा मायादिकप्पिका। इसीलिए डॉ. श्यामसुन्दरदास तथा चाइल्डर्स आदि कई अन्य

विद्वान् इसे मगध की भाषा मानते हैं। किन्तु भाषा की विवेचना करने पर यह बात अशुद्ध ठहरती है। उदाहरणार्थ यदि ध्वनियों का विचार किया जाय तो मागधी में प्राचीन श, ष, स् तीनों के स्थान पर 'श्' ध्वनि मिलती है, जबकि पालि में 'स'। इसी प्रकार मागधी में 'र' के लिए भी 'ल' ही ध्वनि आती है, जबकि पालि में र और ल दोनों हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका मागधी से साम्य नहीं है। उदाहरणार्थ पालि में अकारांत शब्दों (पुल्लिगः, नपुंसक) का कर्ता एकवचन में ओकारांत (धम्मो) होता है, किन्तु मागधी में एकारांत (धम्मे)। पालि में ए वाले रूप हैं, किन्तु बहुत कम। ऐसी स्थिति में पालि को मगध की भाषा नहीं मान सकते।

1. गाइगार, विंडिश इसे मागधी का ही एक रूप मानते हैं, यद्यपि इसे पूरे देश की भाषा होने के कारण इसमें अन्य बोलियों के तत्त्व भी स्वीकार करते हैं।
2. वेस्टगार्ड, ई० कुहन, फ्रेंक तथा स्टैन कोनो पालि को उज्जयिनी या विंध्यप्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं।
3. ग्रियर्सन ने इसे मागधी माना था, यद्यपि इस पर पैशाची का भी प्रभाव स्वीकार किया था।
4. ओल्डनबर्ग ने खारवेल के खंडगिरि (कलिंग) शिलालेख से पाली की समानता देख पालिक को कलिंग की भाषा कहा था।
5. रीड डेविड्ज ने इसे कोसल की बोली कहा है।
6. ल्यूडर्ज पालि को पुरानी अर्धमागधी से संबंद्ध मानते थे।
7. उपर्युक्त मतों से एक बात स्पष्ट है कि पालि में विभिन्न प्रदेशों की बोलियों के तत्त्व हैं इसी कारण विभिन्न लोगों ने इसे विभिन्न स्थानों से संबद्ध किया है। वस्तुतः अपने मूल में पालि मध्यप्रदेश की भाषा है। ऊपर कथित स्, र्, ल्ः ओ का उसमें मिलाना भी इसी का प्रमाण है। यों उस समय वह पूरे भारत में एक अंतर्प्रान्तीय भाषा जैसी थी, इसी कारण उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों–विशेषतः बुद्ध की अपनी भाषा होने से मागधी के भी कुछ तत्त्व मिल गए थे। इस प्रकार अपने मूल रूप में पालि को शौरसेनी प्राकृत का पूर्व रूप मान सकते हैं। पालि कदाचित दक्षिण-पश्चिम में पनपी। अशोकी प्राकृत की बोली से इसका कुछ साम्य है। प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि पालि संस्कृत से काफी प्रभावित होती रही है।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखतः भगवान् बुद्ध से हैं। इसमें उन्हीं से संबद्ध काव्य, कथाओं या अन्य साहित्य-विधाओं की रचना प्रमुखतः हुई। कुछ विशेष संस्कृत या दर्शन की पुस्तकें भी पालिक में लिखी गयी हैं। इसी प्रकार कोश,

छन्द-शास्त्र या व्याकरण की भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक ओर अनुपिटक दो वर्गों में बांटते हैं, जिनमें जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ संग्रह कहना उचित है।), धम्मपद मिलिन्दपञ्हो, बुद्धघोष की अट्टकथा तथा महावंश आदि प्रमुख हैं। पालि साहित्य का रचना काल 473 ई. पू. से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हजार वर्षों में फैला हुआ है, और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगों को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः कई दृष्टियों से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त श्रीलंका बरमा और स्याम की भाषा पर विशेष, तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषाओं पर कुछ-कुछ पड़ा है।

ध्वनियाँ—पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि में 41 ध्वनियाँ थीं—'अक्खरापादयों एकचतालीस'। दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण मोग्गलान के अनुसार 43 ध्वनियाँ थीं—'अआदयो तितालिस वण्णा'। किन्तु वस्तुतः पालि में कुल 47 ध्वनियाँ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ओं, ए, ओ, कवर्ग, टवर्ग, पवर्ग, य, र्, ळ्, ळह्, व्, व्, व, स्, ह्, निग्गहीत।

(1) अर्थात् स्वरों में ह्रस्व ऍं, ओ, इन दो विकास हो गया था। ऐसा बलाघात के कारण हुआ। शब्द में सयुंक्त या द्वित्त व्यंजन होने पर बलाघात उस पर चला जाता था, अतः पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो जाता था। सं: मैत्री पा. मोंती, सं. ओष्ठ पा. ओ पेट्ठ।

(2) ऋ, ॠ, लृ पूर्णतः समाप्त हो गयी। ऋ का पालि में प्रायः अ (हदय-हदय, कृषि-कसि), इ (ऋण-इन), अथवा उ (पृथिवी-पृथवी) हो गया। कभी-कभी रु (वृक्ष-रूक्ख), इ (ऋण-इन), अथवा उ (पृथिवी-पृथवी) हो गया। कभी-कभी रु (वृक्ष-रूक्ख) या र आदि अन्य ध्वनियाँ भी हो गईं। लृ का उ (क्लृप्त-कृत्त) हो गया।

(3) ऐ, औ भी नहीं रहे। ऐ कहीं तो ए (ऐरावण-एरावण) हो गयी और कहीं एं (मैत्री-मैत्ती)। इसी प्रकार औ का ओ (गौतम-गोतम) अथवा ओं हो गया है। इस तरह कुल स्वर 10 थे।

(4) व्यंजनों में वैदिक की तरह ही, पालि में भी ळ्, ळ्ह ध्वनियाँ थीं। यह उल्लेख्य है कि लौकिक संस्कृत के लिखित रूप में ये दोनों नहीं थीं।

(5) विसर्ग, जिह्वामूललीय, उपध्मानीय भी नहीं थीं।

(6) वैदिक तथा संस्कृत में श्, ष, स् तीन थे। पालि में तीनों के स्थान में स् हो गया। वैदिक शवशान, (श्मशान) पा. सुसान, शय्या, निषण्ण-निसिन्न, तृष्णा-तसिण, साधु साहू।

(7) अनुस्वार पालि में स्वतंत्र ध्वनि है, जिसे पालि वैयाकरणों ने निग्गहीत नाम से अभिहित किया है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह उल्लेख्य है कि वैदिक में कुल ध्वनियाँ 55, लौकिक संस्कृत में 52, किन्तु पालि में 47 थीं।

ध्वनि-प्रक्रिया को दृष्टि से पालि में निम्नलिखित परिवर्तन उल्लेख्य हैं–

(1) **घोषीकरण**–स्वर मध्यम अघोष व्यंजन के घोष होने की कुछ प्रवृत्ति है। माकन्दिय-मागन्दिय, उताहो-उदाहु। प् ब् होकर नहीं रुकता अपितु व हो जाता है कप्यि-कवित्थ। ट्, ड् होकर ळ् हो जाता है। स्फटिक-पळिक।

(2) **अघोषीकरण**–यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है। इसका कारण सम्भवतः पैशाची प्रभाव है। मृगद-मुतिंग, परिघ-परिख, अगुरु-अकलु, कुसीद-कुसीत, छगल-छकल।

(3) **महाप्राणीकरण**–सुकुमार-सुखुमाल, परशु-फरसु, कील-खील, पल-फल।

(4) **अल्प-प्राणीकरण**–भगिनी-बहिणी।

(5) **समीकरण**–यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। चत्वर-चच्चर, निम्न-निन्न, सर्व-सब्ब, मार्ग-मग्ग, धर्म-सम्म, कर्म-कम्म, जीर्ण-जिण्ण।

(6) स्वर मध्यम संस्कृत ड, ढ्, का ळ्, ळ्हः आपीड-आवेळ, मीढ-मीळ्ह।

(7) र् ल् का आपसी परिवर्तन र-ल, परि-पलि, तरुण-तलुण, ल-र, किल-किर। र् का ल् पूर्वी प्रभाव है तो ल् का र् पश्चिमी।

(8) **महाप्राण** के ह हो जाने की भी प्रवृत्ति है : भवति होति, लघु लहु, रुधिर रुहिर। यह प्रवृत्ति घोष महाप्राणों में ही है।

मात्रा–पालि में विशेष नियम मिलता है। कुछ थोड़े अपवादों को छोड़कर इस भाषा में अक्षर एक या दो मात्राओं से अधिक का नहीं होता। इस बात को कुछ विस्तार में यों कह सकते हैं कि अक्षर या तो एक मात्रा का (ह्रस्व स्वरांत) होगा, या दो मात्रा का (दीर्घ स्वरांत, अथवा ह्रस्व स्वर-युक्त व्यंजनांत)। इस मात्रा-नियम ने पालि-ध्वनि प्रक्रिया में एक विशेषता ला दी है। जहाँ भी संस्कृत शब्दों में संयुक्त व्यंजन या द्वित व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर है, पालि में या तो (1) संयुक्त या द्वित (प्रायः द्वित्त) व्यंजन रहता (या हो जाता) है तथा उसके पूर्व का स्वर ह्रस्व (कार्य-कर जीर्ण-जिण्ण, मार्ग-मग्ग) हो जाता है, या फिर (2) व्यंजन संयुक्त या द्वित न होकर एक या सामान्य हो जाता है और स्वर दीर्घः दीर्घ-दीघ, लाक्षा-लाखा। ए, ऐ, ओ, औ के ह्रस्व रूप प्रायः ऍ, ऒ मिलत हैं : श्लेष्मन्-सेम्ह, मैत्री-मेंती ओष्ठ-ओट्ठ।

स्वराघात–पालि में स्वराघात की स्थिति विवादास्पद है। टर्नर के अनुसार

पालि में वैदिकी की भांति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों स्वराघात था। ग्रियर्सन पालि में केवल बलात्मक स्वराघात मानते हैं। जूल ब्लाक को पालि में किसी भी स्वराघात के होने के बारे में संदेह है। कुछ लोग पालि में केवल संगीतात्मक स्वराघात मानते हैं।

व्याकरण—पालि भाषा, व्याकरणिक दृष्टि से वैदिक की भांति ही स्वच्छंद एवं विविध रूपोंवाली है। किन्तु साथ ही वैदिक या संस्कृत की तुलना में उसमें पर्याप्त सरलीकरण भी हुआ है। यह सरलीकरण, उच्चारण में, समीकरण आदि के रूप में तो हुआ ही है, साथ ही, सादृश्य के आधार पर विकास के कारण व्याकरण के क्षेत्र में भी हुआ है।

शब्द—इस दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। तद्भव शब्द अधिक हैं। तत्सम उससे बहुत कम। संस्कृत में जिन द्रविण, आस्ट्रिक आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक इसमें भी उपस्थित हैं। परवर्ती साहित्य में कुछ विदेशी शब्द भी हैं।

पालि में विभिन्न तत्त्व—पालि में अनेक व्याकरणिक एवं ध्वन्यात्मक तत्त्व भी मिलते हैं।

बोलियाँ एवं भाषा रूप—पालि काल में आर्य भाषी भारत में वे ही चार बोलियाँ थीं, जिनका उल्लेख लौकिक संस्कृत के प्रसंग में किया जा चुका है—पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी। हाँ संस्कृत काल की तुलना में उनके अन्तर कुछ और उभर आये थे।

इसी प्रसंग में पालि भाषा में विकास का भी उल्लेख किया जा सकता है। पालि साहित्य देखने से पता चलता है कि आद्यंत पालि का एक रूप नहीं रहा है। उसकी कम से कम चार सीढ़ियों का अनुमान लगता है। **भाषा की पहली सीढ़ी** त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म) की गाथाओं में मिलती है। यह पालि का प्राचीनतम रूप है। इसमें रूपों का बाहुल्य है। यह भाषा वैदिक संस्कृत के बहुत निकट है। भाषा का इससे कुछ विकसित रूप **त्रिपिटिक के गद्य भाग** में मिलता है। यहाँ रूप कम है और भाषा में अपेक्षाकृत एक रुपया है। इसमें कुछ ऐसे रूप भी मिलते हैं, जो प्रथम में नहीं हैं, साथ ही प्रथम के कई पुराने रूपों को इसमें स्थान नहीं मिला है। पालि के विकास की तीसरी सीढ़ी और बाद के गद्य जैसे 'मिलिन्दपञ्ह' था बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' आदि में मिलती हैं। **चौथी सीढ़ी** उत्तरकालीन काव्य-ग्रन्थों—जैसे दीपवस, महावंस आदि की भाषा में मिलती है। इस रूप पर संस्कृत का पर्याय प्रभाव है।

अभिलेखी प्राकृत

प्रथम प्राकृत के अन्तर्गत पालि के अतिरिक्त अभिलेखी प्राकृत भी आती है। इसके अधिकांश लेख शिला पर हैं, अतः इसकी संज्ञा शिलालेख प्राकृत भी है। इसकी सामग्री है–

1. अशोकी अभिलेख,
2. अशोकेतर अभिलेख।

अशोकी अभिलेख

प्रसिद्ध भारतीय सम्राट अशोक ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में, जनता के लिए, तत्कालीन बोलचाल की भाषा में, अपनी धार्मिक एवं शासनिक आज्ञाएं तथा सूचनाएँ आदि अंकित कराई थीं। इन्हीं अभिलेखों की भाषा को अशोकी प्राकृत या शिलालेखी प्राकृत कहते हैं। इनमें कुछ अभिलेख लाटों पर हैं, इसी कारण इसे लाटबोली या लाट प्राकृत कहते हैं। इनमें कुछ अभिलेख लाटों पर हैं, इसी कारण इसे लाटबोली या लाट प्राकृत भी कहा गया है। कुछ अभिलेख गुफाओं में हैं, इसी आधार पर पिशेल ने इसे प्राकृत या लेवा बोली कहा है।

ये अभिलेख तीन प्रकार के हैं। कुछ तो चट्टानों पर हैं, कुछ लाटों या स्तम्भों पर, और कुछ गुफा-दीवारों पर। शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि में हैं और शेष ब्राह्मी में इन्हें निम्नांकित 8 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) **लघु शिलालेख**–258-252 ई. पू. के माने जाते हैं। ये मैसूर राज्य के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, जबलपुर जिले के रूपनाथ, शाहाबाद जिले के सहसराम तथा निजाम राज्य के मास्की, ईडागुडी में पाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध अशोक के वैयक्तिक जीवन एवं धर्मनिष्ठा से है।

(2) **भब्रू शिलालेख**–यह 257 ई. पू. का है और जयपुर राज्य में वैराट पर्वत की एक चोटी पर है। यह बौद्ध धर्म-विषयक है।

(3) **चतुर्दश बृहद् शिलालेख**–इनका काल 256 ई. पू. के आस-पास है। ये शाहबाजगढ़ी (पेशावर के पास), मनसेहरा (ऐक्टाबाद के पास), सोयारा (थाना), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी), जौगढ़ (गंजाम), गिरनार (जूनागढ़ के पास), तथा इूडागुडी (निजाम राज्य) आदि में मिलो हैं। इनका विषय प्रमुखतः नैतिक नियम है।

(4) **कलिंग शिलालेख**–समय 256 ई. पू.। ये भी धौली और जौगढ में हैं इनका विषय कलिंग का शासन है।

(5) **बराबर गुफा अभिलेख**–समय 257-250 ई. पू. के बीच। गया के समीप बराबर नामक पहाड़ी में ये गुफालेख हैं। इनमें धर्म-विषयक बातें हैं।

(6) **नेपाल तराई के स्तम्भ लेख**—वे निगलीवा तथा रुक्मिनदेई में मिले हैं। अशोक की तीर्थयात्रा इनका विषय है। काल है 249 ई. पू.।

(7) **सप्त स्तम्भ लेख**—ये 243 ई. पू. के लगभग के हैं। इनका विषय है। अहिंसा आदि धर्मनीति। ये टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशाम्बी (इलाहाबाद) आदि में मिले हैं।

(8) **लघु-स्तम्भ लेख**—ये साँची, सारनाथ, प्रयाग में मिले हैं। इनमें अधार्मिक प्रवृत्तियों का विरोध है।

इन शिलालेखों का इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। इनमें इस बात का पता चल जाता है कि तीसरी सदी में इ. पू. के मध्य के आस-पास, प्राकृत भाषा का विभिन्न क्षेत्रों में क्या रूप था। एक ही लेख के विभिन्न स्थानों में प्राप्त रूपान्तरों से तत्कालीन प्राकृत के स्थानीय रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इन क्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों ने किया है, किन्तु परिणाम के संबंध में फ्रेंक, सेनार्ट, गुणे के अनुसार तीन, कुछ के अनुसार चार और कुछ के अनुसार पाँच बोलियों का पता चलता है। पीछे संस्कृत काल में 4 बोलियों का संकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में इस काल में 5 बोलियों का अपने प्रारम्भिक रूप में विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। यों इनमें कम-से-कम 4 बोलियों के रूप तो हैं ही—पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी-पश्चिमी, मध्यपूर्वी, पूर्वी।

अशोकेतर अभिलेख

ये ई. पू. की अन्तिम तीन सदियों के छोटे और खंडित अभिलेख हैं। इनमें कुछ शिला पर हैं, कुछ स्तम्भ पर तथा कुछ ताम्रपत्र आदि पर। इनमें पश्चिमोत्तरी भारत का शिकोट अभिलेख, ग्वालियर का बेसनगर स्तम्भ, लेख, मध्य भारत का जोगीमारा गुफालेख, बिहार का सोहगौरा ताम्रलेख तथा उड़ीसा के हाथीगुम्फा गुफालेख आदि हैं। प्रथम की लिपि खरोष्ठी है, शेष की ब्राह्मी। इनमें भी कुछ अपवादों को छोड़कर भाषा के प्रायः वे भी रूप मिलते हैं, जो कि अशोकी अभिलेखों में। उपर्युक्त अभिलेखों में बेसनगर का अभिलेख हिलिओदोरस नामक यूनानी दूत का है, तथा हाथीगुम्फा वाला जैनधर्मावलम्बी कलिंगराज खारवेल का। इन दोनों की भाषा कुछ-कुछ पालि के समीप है, तथा संस्कृत से प्रभावित है। इनका काल दूसरी सदी ई. है। इन दोनों से इस बात का संकेत मिलता है। कि बौद्ध जैन धर्म ने लोक-भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु इस समय तक आते-आते फिर संस्कृत का महत्व बढ़ने लगा था।

इस प्रसंग में श्रीलंका में प्राप्त कुछ अभिलेखों (समय सदी ई. पू. से तीसरी सदी ई. तक) का उल्लेख भी किया जा सकता है। इनमें प्रायः आगे वर्णित मध्यपूर्वी बोली की ही विशेषताएं मिलती हैं। आगे तत्कालीन प्राकृत के चारों रुपों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

पश्चिमोत्तरी--इसमें प्रमुखतः शाहबाजगढी और मनसेहरा के अभिलेख आते हैं। यह उल्लेख है कि ये लिख खरोष्ठ लिपि में हैं। स्वरदीर्घता और व्यंजन द्वित्त इनमें अंकित नहीं है। अन्य सभी बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहबाजगढी वाली अभिलेख पश्चिमोत्तरी बोली का ठीक प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु मनसेहरा वाले पर मध्यपूर्वी एवं पूर्वी बोली का प्रभाव उदाहरणार्थ प्रथमा एकवचन में शाहबाजगढ़ी में ओ है, किन्तु मनसेहरा में ए। प्राकृतों में होने वाले सामान्य सभी परिवर्तन इसमें प्रायः मिलते हैं।

दक्षिणी-पश्चिमी

शिलालेखी प्राकृत की इस बोली का स्वरूप प्रमुखतः गिरनार (गुजरात) के अभिलेख में है। यह भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है।

मध्यपूर्वी

इस बोली में देहरादून के पास का कालसी शिलालेख, टोपरा (दिल्ली) का स्तम्भलेख तथा कुछ अपवादों को छोड़कर जोगीमार एवं नागर्जुनी गुफा लेख आदि आते हैं।

पूर्वी

इसमें उड़ीसा के धौली, जौगढ़ शिलालेख, सोहगौरा ताम्रलेख हाथीगुंफा के लेख आदि आते हैं। यह मध्यपूर्वी के काफी समान है।

अभिलेखी प्राकृत (1 ई. तक की), वस्तुतः कुछ अपवादों को छोड़कर, पालि एवं परवर्ती प्राकृत के बीच में आती है। परवर्ती प्राकृत में आने-वाले विकासों के बीज यहाँ हैं। पूर्ववर्ती भाषा की तुलना में सरलीकरण प्रायः सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। प्रातिपादित प्रायः स्वरांत हैं। द्विवचन नहीं हैं। लिंग तीन हैं। आत्मनेपद कुछ क्षेत्रीय अपवादों को छोड़कर समाप्त प्राय है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष का रचना काल 100 ई. के आस-पास माना जाता है। उनके दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मध्य एशिया में मिली हैं, जिन्हें जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादित किया है।

अश्वघोष की ये प्राकृतें अभिलेखी प्राकृत या अशोकी प्राकृत से भिन्न हैं।

साहित्यिक प्रकृति होने के कारण संस्कृत का प्रभाव इन पर स्वाभाविक है।

धम्मपद की प्राकृत

सन् 1812 में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदरों को खोतान में खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। ओल्डेनवर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय एवं अन्य अभारतीय विद्वानों के प्रयास के बाद में इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया 'धम्मपद' निकला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते हैं। इसकी रचना 200 ई. के लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है। यह निय प्राकृत की तुलना में पुरानी है, साथ ही संस्कृत से प्रभावित भी है। 'धम्मपद की प्राकृत' तथा 'निय प्राकृत' खरोष्ठी लिपि में है, अतः इन दोनों में दीर्घ स्वर एवं द्वित्त व्यंजन लिखे नहीं गए हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि ये हैं या नहीं।

निय प्राकृत

ऑरेल स्टेन को 1900 से 1914 के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक प्रदेश में तथा आसपास कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। 1937 में टी-बरो ने इनकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। इसकी सामग्री प्रमुखतः 'निय' प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। यह शान-शान साम्राज्य की राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत का आधार भी भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेश की प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। अशोक के परवर्ती पश्चिमोत्तरी खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से इसमें बहुत समानताएँ हैं। प्राकृत धम्मपद से भी समानताएँ हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम। आधुनिक दरद भाषाओं (विशेषतः तोरवारी) के भी यह पर्याप्त निकट है। निय प्राकृत पर शब्दों एवं क्षेत्रों में इरानी, मंगोलियन तथा क्रोरैनी प्रभाव पड़ा है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत

ऊपर पालि के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि वह दक्षिणी एवं दक्षिणी पश्चिमी हीनयानी बौद्धों के ग्रन्थों में अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुई। उसी प्रकार उत्तरी भारत के महायानी बौद्धों में धर्म-ग्रन्थों में प्रायः या तो शुद्ध संस्कृत प्रयुक्त हुई या एक विशेष प्रकार की संस्कृत भाषा, जिसमें संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का मिश्रण है। यहाँ तक कि प्रातिपादिक तो संस्कृत का है और विभक्ति प्राकृत की : पुष्पेहि। इसे बौद्ध संस्कृत या मिश्र संस्कृत भी कहा गया है। प्रसिद्ध विद्वान् एजर्टन ने इस भाषा पर विशेष रूप से कार्य किया है, तथा इसका कोश भी बनाया है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत में मिश्रण ऐसा है कि भाषा की एकरूपता इसके

साहित्य में प्रायः नहीं है। हर ग्रन्थ ही भाषा का स्वरूप अपने में अलग है। यही नहीं, ललित विस्तर या महावस्तु जैसे कई ग्रन्थों मे गद्य की मिश्रित संस्कृत, उसी में प्रयुक्त पद्य की मिश्रित संस्कृत से प्रायः भिन्न है। इस भाषा में लिखे गए ग्रन्थों के पद्य भाग को गाथा कहते हैं, उसी आधार पर मैक्समूलर, वेबर तथा बर्नर आदि ने इसे गाथा संस्कृत कहा है। इस भाषा को लेकर थोड़ा विवाद भी रहा है। बर्नर इसे स्वाभाविक भाषा मानते हुए, संस्कृत एवं पालि के बीच की कड़ी मानते हैं, किन्तु भाषाशास्त्र की कसौटी पर उनका यह मत खरा नहीं उतरता। यह पालि के बाद की पहली सदी के आस-पास की है, और कृत्रिम भाषा है। कीथ, कीलहार्न आदि का कहना है कि जिन ग्रन्थों की यह भाषा है, वे मूलतः किसी प्राकृत में थे। ये ग्रन्थ इनके संस्कृत अनुवाद है। मिश्रण का कारण यह है कि अनुवाद करने में मूल के कुछ रूपादि अनूदित रह गए हैं, किन्तु ऐसे मत के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगाता है कि यह भाषा मूलतः प्राकृत है, और उस पर संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा गया है। इसकी कुछ बातें एक प्राकृत से मिलती हैं, तो कुछ दूसरी से, और कुछ अन्य किसी से भी नहीं।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थ जातकमाला, लंकावतार, दिव्यावदान अवदानशतक, ललितविस्तर तथा महावस्तु आदि हैं।

प्राकृत (1–500 ई.)

मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रारम्भ में 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। ऐसा अनुमान लगता है कि जन-भाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा से विभूषित किया गया तो, वह जनभाषा जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी, और पंडितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में बोली जाती थी, सहज ही, 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत शब्द के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में यह 5वीं सदी ई. पू. से 1000 ई. तक की भाषा है, जिसमें प्रथम प्राकृत में 'पालि' और 'अभिलेखी प्राकृत' हैं, द्वितीय प्राकृत में भारत एवं भारत के बाहर प्रयुक्त विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और अन्य प्राकृतें हैं, तथा तृतीय प्राकृत में अपभ्रंश एवं तथाकथित अवहट्ठ आती हैं।

द्वितीय प्राकृत के लिए भी 'प्राकृत' नाम का प्रयोग होता है। यहाँ, उपर्युक्त शीर्षक में 'प्राकृत' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। द्वितीय प्राकृत में ऊपर की अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (पहली सदी), निय प्राकृत (तीसरी सदी), मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्राकृतांश (पहली सदी) एवं प्राकृत धम्मपद (दूसरी सदी) की प्राकृत, इन चार को बहुत लोगों ने प्रथम एवं द्वितीय प्राकृत के बीच में या सन्धिकालीन

प्राकृत कहा है। वस्तुतः इन्हें भी द्वितीय में ही स्थान देना उचित है। हाँ यह अवश्य है कि आगे हम जिन प्राकृतों पर विचार करेंगे, उनकी तुलना में ये तथाकथित सन्धिकालीन प्राकृतें कुछ पुरानी हैं। इसीलिए यहाँ इनको पहले रखा गया है।

प्राकृतों के भेद—धर्म, साहित्य, भूगोल (पश्चिमोत्तरी, पूर्वी आदि), लिखने का आधार (शिलालेखी, धातुलेखी आदि) आदि कई आधारों पर प्राकृतों के भेद किए जा सकते हैं, और कुछ आधारों पर किए भी गए हैं।

धार्मिक दृष्टि से लोगों ने प्राकृत के पालि, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी प्रायः ये चार भेद माने हैं। साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची के नाम लिये गये हैं। नाटक में प्रयोग की दृष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों में वररुचि का उल्लेख है। इन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, इन चार का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये हैं। आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। इनमें 'आर्ष' को ही अन्य लोगों ने 'अर्ध-मागधी' कहा है। कुछ अन्य व्याकरणों तथा अन्य स्रोतों से कुछ और प्राकृतों के भी नाम मिलते हैं, जैसे बाह्लीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गौड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद थे। आभीरिका शौरसेनी की जातीय (आभीरो की) रूप थी और अवन्ती या अवन्तिका उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी था। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी था। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने 'भूत भाषा' कहा है (गलती से 'पैशाची' का अर्थ 'पिशाच' का या 'भूत' का समझकर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हेमचन्द्र ने ये दोनों अलग-अलग दिये हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौडी का अर्थ है 'गौड' देश का। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही एक नाम है।

इस प्रकार प्राकृतों के प्रसंग में लगभग दो दर्जन नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं—

1. शौरसेनी 2. पैशाची, 3. महाराष्ट्र, 4. अर्द्धमागधी, 5. मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

1. शौरसेनी—यह प्राकृत मूलतः मथुरा या शूरसेन के आस-पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालीन स्थानीय बोली से हुआ था। मध्य देश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की परिनिष्ठित भाषा

मानते हैं। मध्य देश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी में अपेक्षाकृत प्राचीनता है तथा यह कुछ कृत्रिम है। संस्कृत नाटको के गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कर्पूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। जैनों (दिगम्बर सम्प्रदाय) ने साम्प्रदायिक ग्रन्थों के लेखन में भी इसका प्रयोग किया है। ऐसे ग्रन्थों की भाषा 'जैन शौरसेनी' या 'दिगम्बर शौरसेनी' कही गयी है। यह मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप अवन्ती, आभारी आदि हैं। शौरसेनी अपने समय की सर्वाधिक आभिजात्य भाषा थी। नाट्यशास्त्र में इसके नाटकों की प्रधान भाषा होने का संकेत मिलता है : 'शौरसेनम् समाश्रित्य भाषा कार्यो तु नाटके।' वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत का आधार संस्कृत माना है : 'प्रकृतिः संस्कृतम्'। राम शर्मन् के 'प्राकृतकल्पतरु' में 'विरच्यते' सम्प्रति शौरसेनी पूर्वेव भाषा प्राकृतिः किलास्याः' रूप में महाराष्ट्र को शौरसेनी का आधार माना गया है। पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासनम्' में दोनों बातों को मिला दिया है : 'संस्कृतानुगमनाद् बहुलम्' तथा 'शेषे महाराष्ट्रीं।'

डॉ. घोष के अनुसार प्राचीन शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री की जननी है। प्राकृतानुशासन के अनुसार टक्क प्राकृत संस्कृत एवं शौरसेनी का मिश्रित रूप हैं। मध्यदेश की भाषा होने के कारण शौरसेनी का बड़ा आदर रहा है। राजशेखर ने कहा– यो मध्ये मध्यदेशं विवसति स कविः सर्वभाषा निषण्णाः।

2. पैशाची– इसके अन्य नाम पैशाचिकी, पैशाचिका, ग्राम्यभाषा, भूतभाषा भूतवचन, भूतभाषित आदि भी मिलते हैं। अन्तिम तीन नाम 'पिशाच' को 'भूत' का पर्याय समझ लेने के आधार पर रखे हैं। महाभारत में 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। ये उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के पास थे। ग्रियर्सन इसे वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते हैं। हार्नले इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन में संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना है। वररुचि इसका आधार संस्कृत मानते हैं। पैशाची में साहित्य नहीं के बराबर है। यों ऐसा अनुमान लगाने के आधार हैं, कि कभी इसमें काफी साहित्य था गुणाढ्य का वृहत्कथासंग्रह 'वृहत्कथा' मूलतः इसी में था। अब केवल दो संस्कृत रूपांतर ही-वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर-शेष हैं। हम्मीरमर्दन तथा कुछ अन्य नाटकों में कुछ पात्रों ने इसका प्रयोग किया है। व्याकरणों आदि में भी इसके कुछ रूप सुरक्षित रह गए हैं, यद्यपि उनमें बहुतों के लेखकों को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान शायद नहीं था। इसीलिए उनकी बातें प्रायः एक-दूसरे का विरोध करती हैं। पैशाची को जो कुछ रूप प्राप्त है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तरी प्राकृत से यह बहुत-कुछ मिलती-जुलती थीं। यों इस आधार पर इसे पश्चिमोत्तरी प्राकृत की संज्ञा

नहीं दी जा सकती। अपभ्रंश से भी इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है। पैशाची के कई भेदों के उल्लेख मिलते हैं। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्यों ने इसका एक रूप चूलिका पैशाची दिया है। मार्कण्डेय आदि ने इसके कैकेय, पांचाल और शौरसेन तीन भेद दिये हैं। प्राकृत सर्वस्व में देश तथा जाति के आधार पर इसके ग्यारह भेद दिए गए हैं। लेसेन मागध ब्रावड़, पैशाचिक तीन भेद मानते हैं। इन बहुत से भेदों के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि पैशाची केवल अपने स्थान पर ही प्रचलित न होकर चारों ओर निम्न स्तर के लोगों में प्रचलित थी। मध्यदेश में इसके प्रचलित होने की पूरी सम्भावना है। इसी कारण यह अपनी ध्वनि-प्रक्रिया में एक सीमा तक संस्कृत से प्रभावित ज्ञात होती है।

3. माहाराष्ट्री या महाराष्ट्री–इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। जूल ब्लाख ने मराठी का विकास इसी के बोलचाल के रूप में माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मानकर महाराष्ट्र अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानने के पक्ष में हैं। इसी रूप में डॉ. मनमोहन घोष ने इसे शौरसेनी के बाद की माना है। डॉ. सुकुमार सेन का भी लगभग यही मत है। कुछ लोग इसे काव्य की कृत्रिम भाषा मानते रहे हैं, किन्तु अब यह मत निर्मूल सिद्ध हो चुका है। गाहा सत्तसई (हाल), रावणहो (रावरसेन) तथा वज्जालग (जयवल्लभ) इसकी अमर कृतियाँ हैं। काव्य भाषा के रूप में इसका प्रचार पूरे उत्तरी भारत में था और इसमें 'गीति', 'खंड' और 'महा', सभी प्रकार के काव्य लिखे गए। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों के गीतों की भाषा यही है। कुछ लोग समझते हैं कि महाराष्ट्री में केवल कविता की रचना हुई, गद्य की नहीं है। किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। श्वेताम्बर जैनियों ने भी इनमें अपने कुछ धार्मिक गद्य ग्रंथ लिखे हैं। इस भाषा पर अर्ध-मागधी का भी प्रभाव पड़ा है। कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी महाराष्ट्र में मिलते हैं महाराष्ट्र, प्राकृतों में परिनिष्ठित भाषा मानी गई है। इसीलिए वैयाकरणों ने पहले इसी का सविस्तार वर्णन किया है, और अन्य प्राकृतों के, केवल इससे अन्तरों का उल्लेख कर दिया है। इसी आधार पर कुछ लोग इसे मराठा देश से सम्बद्ध न मानकर पूरे भारत (महाराष्ट्र) की कहते हैं। एक मत यह है कि 'शक' अपने राज्य को 'महाराष्ट्र कहते थे। उनके इस महाराष्ट्र के आधार पर ही, इसे पूरे राष्ट्र में बोली जाने के कारण, महाराष्ट्री कहा गया।

4. अर्ध-मागधी–अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है अर्थात् यह प्राचीन कोसल के आस-पास की भाषा है। इसमें मागधी की पृवत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम अर्ध-मागधी है। जैनियों ने इसके लिए 'आर्ष', 'आर्षी' और 'आदि भाषा' का भी प्रयोग किया है। इसका प्रयोग प्रमुखतः जैन साहित्य में हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गए हैं। यों

साहित्यिक नाटकों में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष में मिलता है। साहित्य दर्पणकार ने इसे चरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा है। मुद्राराक्षस और प्रबोध-चन्द्रोदय में भी इसका प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिनको स्थानीय रूपों में रूपांतरिक किया गया था। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री शौरसेनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

5. मागधी—मागधी मूल आधार मगध के आस-पास की भाषा है। लास्सन महाराष्ट्री एवं मागधी को एक मानते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री से मानते हैं। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते हैं। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष में मिलता है। इसे 'गौडी' भी कहते हैं। बाह्लीकी, ढक्की, शावरी तथा चांडाली इसके जातीय रूप थे। शाकारी इसकी उपबोली थीं। इसमें अन्य सभी प्राकृतों से अधिक विकास हुआ है।

तृतीय प्राकृत

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राकृत में अपभ्रंश भाषा आती है। तथाकथित अवहट्ट, जो अपभ्रंश एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है, एक सन्धिकालीन भाषा है, अतः तृतीय प्राकृत की अन्तिम सीमा पर उसे भी रख सकते हैं।

अपंभ्रश

द्वितीय प्राकृत-काल की जनभाषाओं पर तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत आधारित थीं, किन्तु साहित्य में आ जाने के कारण उनका जन स्तर पर विकास नहीं हुआ। जन स्तर पर जनभाषा ही विकसित होती रही। प्राकृतकालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे तौर पर 500 ई. से 1000 ई. के बीच अपभ्रंश कहा जाता है। अपभ्रंश को अवहंस आदि कई अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है, जैसा कि आगे दिया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण भाषा, देसी, देसी भाषा, आभीरोक्ति, आभीरी आदि नामों से भी अपभ्रंश पुकारी जाती रही हैं।

अपभ्रंश शब्द का प्राचीनतम प्रामाणिक प्रयोग पतंजलि (150 ई. पू. के लगभग) के 'महाभाष्य' में मिलता है। यों भर्तृहरि (5वीं सदी) के 'वाक्यपदीय' (काण्ड 1, कारिका 148 का वार्तिक) से पता चलता है कि 'व्याडि' नाम के संग्रहकार ने भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया था। एक 'व्याडि' का उल्लेख महाभाष्यकार (कीलहार्न संस्करण, भाग 1, पृष्ठ 6) ने भी किया है। इसका आशय है कि ये 'व्याडि' महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए थे। ऐसी स्थिति में यदि 'वाक्यपदीय' और

'महाभाष्य' के व्याडि एक हों तो अपभ्रंश शब्द के प्रथम प्रयोग का श्रेय 'व्याडि' को दिया जा सकता है। व्याडि और पतंजलि (एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः) में इस शब्द के प्रयोग तो हैं, किन्तु उनमें इसका अर्थ, 'भाषा विशेष' न होकर, तत्सम शब्द का 'तद्भव' या 'विकृत' रूप है। आगे भरत (तीसरी सदी) ने अपने नाट्यशास्त्र में इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया। भरत (17-49, 50) ने मागधी, अवन्ती, प्राच्या आदि सात भाषाओं एवं उनकी कई जातीय या स्थानीय बोलियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें अपभ्रंश का नाम नहीं है। संकेत यह है कि तीसरी सदी के लगभग तक विकृत शब्दों को 'अपभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' आदि कहा तो जाता था, किन्तु किसी भाषा के अर्थ में इसी प्रकार का कोई शब्द प्रयोग में नहीं था। लगता है कि आगे चलकर इस प्रकार के 'अपभ्रंश' शब्दों (ऐसे शब्द जो संस्कृत की तुलना में भी अपभ्रंश थे) के अधिक प्रयोग के कारण ही वह भाषा भी अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कही जाने लगी और स्वयं ये नाम भी अपभ्रंशित होकर अवब्भंस, अवहंस या अवहत्थ, अवहट्ट अवहट्ट, अवहट एवं औहट आदि रूपों में उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे।

समय–ऊपर यह कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का काल मोटे रूप से 500 ई. से 1000 ई. तक है। या कुछ लोगों ने 600 से 1100 तक या कभी-कभी 1200 तक भी इसका समय माना है। कुछ दूसरों ने और आगे बढ़कर 7वीं सदी से 13वीं तक भी इसे माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्यों ने अन्य प्राकृतों के साथ ही अपभ्रंश को भी गिनाया, तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपभ्रंश भी अन्य प्राकृतों की समकालीन रही हो। इधर डॉ. सुकुमार सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के नए संस्करण में अपभ्रंश का काल 1 ई. से 600 ई. माना है। ऐसी स्थिति में इसके काल निर्धारण की समस्या भी विचारणीय है। भाषा के अर्थ में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रथम प्रयोग 'चण्ड ने इसका प्रयोग किया है। (न लोपोऽभ्रंशेऽधो रेफस्य), इससे यह अनुमान लगता है कि उस काल तक भाषा के रूप में 'अपभ्रंश' नाम पर्याप्त प्रचलन पा चुका था। भामह ने इसी सदी में 'अपभ्रंश' को संस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा कहा (संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा-काव्यालंकार 1,16,28)। वलभी के राजा द्वितीय धरसेन के इसी सदी के एक ताम्रलेख में 'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचना निपुणान्तकारणः' में भी इसका नाम आता है। इससे भी उसी बात का संकेत मिलता है। इसका आशय यह हुआ कि मोटे रूप से 500 ई. के बहुत बाद अपभ्रंश का जन्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि छठी सदी में यह स्वीकृत काव्यभाषा बन चुकी थी, और जन्मते ही काव्यभाषा नहीं बन जाती।

जन्म के बाद काव्यभाषा स्वीकृत होने में सौ-पचास साल लग ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में डॉ. उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, दूसरा सं., पृ. 60) द्वारा दिया गया (600 ई.) या डॉ. नामवर सिंह द्वारा (हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, 1961, पृ. 281) उल्लिखित (सातवीं सदी) समय स्वीकार नहीं किये जा सकते। इन लोगों की मान्यताएँ उपर्युक्त उद्धरणों के साथ मेल नहीं खातीं। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या 5000 ई. से बहुत पहले अपभ्रंश का जन्म माना जा सकता है, जैसा कि डॉ. सेन ने किया है। इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि ऊपर के बलभी नरेश या भामह के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत और प्राकृत के बाद भी अपभ्रंश का क्रम आता है। साहित्यिक प्राकृतों का जन्म पहली सदी के आसपास हुआ तथा उनका साहित्य में प्रयोग दूसरी सदी के लगभग से माना जा सकता है। भाषा में इतना अधिक परिवर्तन आने में कि वह दूसरे नाम की अधिकारिणी बन सके, कम-से-कम चार पाँच सौ साल तो लगेंगे ही। इसके अतिरिक्त साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश-अंशों का प्रथम दर्शन कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। इसे याकोबी तथा स. प. पण्डित अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु डॉ. उपाध्याय एवं डॉ. तगारे आदि प्रामाणिक मानते हैं। यदि अप्रामाणिक मानें तो इन अपभ्रंश अंशों का काल और इधर खिसक आता है और प्रामाणिक मानने पर भी पहली सदी के पास इसका रचनाकाल नहीं पहुँचता। इस प्रकार पहली दूसरी सदी के निकट की कोई अपभ्रंश रचना हमें नहीं मिली है। ये दोनों बातें पहली सदी या उसके आस-पास अपभ्रंश का जन्म मानने में बाधक सिद्ध होती हैं। अतः सभी बातों को ध्यान में रखते हुए अपभ्रंश का जन्म 500 ई. के आसपास मानना ही अधिक ज्ञात होता है। जहाँ अपभ्रंश की उत्तर सीमा का प्रश्न है, उसे मोटे रूप से 1000 ई. के पास ही मानना होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा जन्मते ही साहित्य में प्रयुक्त नहीं होती। उसे मान्यता मिलने में समय लग जाता है और पुरानी हिन्दी की अब तक प्राप्त प्राचीनतम प्रामाणिक रचना 11वीं सदी की राउलवेल (रोडा कृत) है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का जन्म 1000 ई. के आसपास ही माना जा सकता है। उसके बहुत बाद नहीं। लगभग सभी आधुनिक आर्यभाषाओं की यही स्थिति है। यह बात दूसरी है कि उसके बहुत बाद तक अपभ्रंश या तथाकथित अवहट्ट में ग्रन्थ लिखे जाते रहे, इसी प्रकार जैसे इस सदी में भी संस्कृत में नाटक एवं काव्य ग्रन्थ लिखे गए हैं। निष्कर्षतः अपभ्रंश का काल लगभग 500 से 1000 ई. तक ही मानना उचित है।

अपभ्रंश की बोलियाँ और आधुनिक भाषाओं से उनका सम्बन्ध

ऊपर अपभ्रंश के भौगोलिक रूपों, भेदों या बोलियों का उल्लेख किया

गया है। आज की आर्यभाषाओं की जननी के रूप में निम्नांकित अपभ्रंश बोलियाँ उल्लेख्य हैं।

अपभ्रंश बोलियाँ	उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से– (अ) राजस्थानी (ब) गुजराती (ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से पहाड़ा
2. पैशाची या केकय टक्क	(क) लहँदा (ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी उपभ्रंश का प्रभाव है।)
3. व्राचड	सिन्धी
4. महाराष्ट्री	मराठी
5. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
6. मागधी	(क) बिहारी (ख) बंगाली (ग) उड़िया (घ) असमिया

पहाड़ी भाषाओं (नेपाली, कुमायूँनी, गढ़वाली आदि) के लिए डॉ. चटर्जी ने खस अपभ्रंश की कल्पना की थी। किन्तु ये भी शौरसेनी से ही (शौरसेनी के उस रूप से जो पहाड़ी भागों में प्रचलित था, यदि चाहें तो उसे अपभ्रंश बोली शौरसेनी की खस उपबोली कह सकते हैं) निकली है। 'पूर्वी हिन्दी' का सम्बन्ध डॉ. सक्सेना अर्धमागधी कहना ही उचित है। पीछे महाराष्ट्री प्राकृत न होकर पूरे आर्य क्षेत्र में काव्य में प्रचलित थी। यहाँ, जिस महाराष्ट्री अपभ्रंश का उल्लेख है, वह अपभ्रंश है। जो अपभ्रंश काल में महाराष्ट्र में प्रयुक्त होती थी। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध उस प्राकृत से है जो प्राकृत काल में महाराष्ट्र की जनभाषा थी। यह आवश्यक नहीं कि वह प्राकृत, काव्यभाषा महाराष्ट्र प्राकृत से सभी बातों में समान रही हो, यद्यपि दोनों का नाम एक है। ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश के उपरूप नागर अपभ्रंश से राजस्थानी एवं गुजराती का सम्बन्ध माना गया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का दक्षिणी पश्चिमी रूप था। अपभ्रंश की इस उपबोली को कभी-कभी सौराष्ट्री अपभ्रंश भी कहते हैं। पैशाची

के स्थान पर कुछ लोग केकय का प्रयोग करते हैं। खस को दरद नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोग केकय का प्रयोग करते हैं। खस को दरद नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोगों ने पैशाची या केकय से ही सिंधी, पंजाबी एवं लहँदा तीनों को सम्बद्ध किया है, किन्तु कुछ 'ब्राचड़' से सिन्धी का विकास मानते हैं।

पालि-काल में गुजरात में जो रूप बोला जाता था, दूसरी सदी ई. पू. में वहाँ से जाने वालों के साथ श्रीलंका पहुँचा। प्राकृत काल में वह सिंहली प्राकृत या एलू प्राकृत (सिंहली के आदि रूप को एलू कहते हैं) था। अपभ्रंश काल में उसे सिंहली अपभ्रंश या एलू अपभ्रंश कह सकते हैं।

3

वाक्य रचना सिद्धान्त एवं अर्थ विज्ञान

वाक्य रचना सिद्धान्त

वाक्य रचना सिद्धान्त या 'वाक्यविज्ञान' में वाक्य-गठन या 'पद' से वाक्य बनाने की प्रक्रिया का वर्णनात्मक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन होता है। वर्णनात्मक वाक्यविज्ञान में किसी भाषा में किसी एक काल में प्रचलित वाक्य-गठन का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक तथा व्यतिरेकी में दो या दो से अधिक भाषाओं के वाक्य-गठन की दृष्टि से किये गये अध्ययन की तुलना करके साम्य और वैषम्य देखा जाता है। ऐतिहासिक वाक्यविज्ञान में एक भाषा के विभिन्न कालों का अध्ययन कर वाक्य-गठन की दृष्टि से उसका इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

वाक्य को प्रायः लोक-सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं, जो भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो। कोषों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। यूरोप में इस दृष्टि से प्रथम प्रयास थ्रैक्स (लगभग पहली सदी ई. पूर्व) का है। भारत में पतंजलि (150 ई.पू. के लगभग) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों ही आचार्य 'पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य' मानते हैं। यों समझने-समझाने के लिए ये परिभाषाएँ ठीक हैं, किन्तु तत्त्वतः इन्हें ठीक नहीं कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। वाक्य भाषा की इकाई है। व्याकरणवेत्ताओं ने कृत्रिम रूप में वाक्य को तोड़कर शब्दों को अलग-अलग कर दिया है। हमारा सोचना, समझना, बोलना या किसी भाषा को हृदयंगम करना सब कुछ 'वाक्य' में ही होता है। **ऐसी स्थिति में 'वाक्य' पदों या शब्दों का समूह है। कहने की अपेक्षा 'पद या शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड हैं' कहना अधिक समीचीन है।**

'पद' और 'वाक्य' को लेकर हमारे यहाँ मीमांसकों में विवाद रहा।

अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त के अनुसार वाक्य की ही सार्थक सत्ता मूल है और, 'पद' उसके तोड़ गए अंश हैं, किन्तु अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सार्थक सत्ता है और वाक्य पदों का जोड़ा हुआ रूप है। भर्तृहरि ने भी अपने 'वाक्यपदीय' में वाक्य की सत्ता को ही वास्तविक कहा है। स्पष्ट ही अन्विताभिधानवाद या भर्तृहरि का मत ही आज के भाषा-विज्ञान-जगत् को मान्य है, और वाक्य ही भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक सहज इकाई है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें मूलतः दो बातें हैं–

1. वाक्य शब्दों का समूह है।
2. वाक्य पूर्ण होता है।

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक दृष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है, और यह कहा जा चुका है कि वाक्य का शब्द-रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं है। आज भी संसार में ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें वाक्य का शब्द-रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य हैं, शब्द नहीं।

'वाक्य शब्दों का समूह हैं' पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। 'वाक्य शब्दों का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णतः ठीक नहीं है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्राप्तः जब माँ से 'बिछकुट' (बिस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य से ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत में भी प्रायः वाक्य एक शब्द के होते हैं। उदाहरणस्वरूप–

हीरा–तुम घर कब आओगे?

मोती–कल। और तुम?

हीरा–परसों।

मोती–और मोहन गया क्या?

हीरा–हाँ।

क्या यहाँ 'कल', 'परसों', 'हाँ' वाक्य नहीं हैं। इसी प्रकार 'खाओ', 'जाओ', 'लिखिए', 'पढिए', 'चलिए' आदि भी एक ही शब्द के वाक्य होते हैं। यह बात दूसरी है कि ऐसे वाक्य पूरे वाक्य में शब्दों का लोप करके बताए जाते हैं तथा बोलचाल में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नहीं है। उसे पूर्णतः पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्रायः अपने किसी भाव को हम कई वाक्यों द्वारा व्यक्त करते हैं। यहाँ भाव अपने में पूर्ण हैं और कई वाक्य

मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्य पूर्ण के खंड मात्र हैं, अतः अपूर्ण हैं। यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक ही अविच्छिन्न धारा प्रभावित होती रहती है और बीच में आने वाले छोटे-छोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहरें मात्र हैं, अतएव वह अविछिन्न धारा की पूर्णता की तुलना में एक भाव या विचार भी बहुत अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या, जो पूरे भाव या विचार का एक छोटा खंड मात्र है। पर दूसरे धरातल पर बात लें।

मान लीजिए किसी उपन्यास में बीच में एक वाक्य होता है–

'उसने उससे वह बात कह दी।'

क्या यह वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूरा है। यदि किसी से यह वाक्य कहें तो क्या वह इससे पूरी बात समझ जाएगा? शायद नहीं। अर्थात् वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूर्ण नहीं भी हो सकता है। फिर वाक्य की परिभाषा क्या हो? वस्तुतः वाक्य की कोई ऐसी परिभाषा दे पाना काफी कठिन है जो दुनिया की सारी भाषाओं पर लागू हो। कामचलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार की हो सकती है–

वाक्य भाषा की वह सहज इकाई है जिसमें एक या अधिक शब्द होते हैं तथा जो अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो या अपूर्ण, व्याकरणिक दृष्टि से अपने विशिष्ट संदर्भ में अवश्य पूर्ण होती है, साथ ही उसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम से कम एक समापिका क्रिया अवश्य होता है।

वाक्य की आवश्यकताएँ

भारतीय दृष्टि से वाक्य की रचना के लिए 5 बातें आवश्यक हैं–सार्थकता, योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि और अन्विति। 1. सार्थकता–का आशय यह है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिए। 2. योग्यता–का आशय यह है कि शब्दों की आपस में संगति बैठे। शब्दों में प्रसंगानुकूल भाव का बोध कराने की योग्यता या क्षमता हो। 'वह पेड़ को पत्थर से सींचता है' वाक्य में शब्द तो सार्थक हैं, किन्तु पत्थर से सींचना नहीं होता, इसलिए शब्दों की परस्पर योग्यता की कमी है, अतः यह सामान्य अर्थ में वाक्य नहीं है। उलटबाँसी भले हो। 3. आकांक्षा–का अर्थ है 'इच्छा'। अर्थात् 'जानने की इच्छा,' अर्थात् 'अर्थ की अपूर्णता'। वाक्य में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह पूरा अर्थ दे। उसे सुनकर भाव पूरा करने के लिए कुछ जानने की आकांक्षा न रहे। 4. सन्निधि या आसत्ति–का अर्थ समीपता। वाक्य के शब्द समीप होने चाहिए। उपर्युक्त सभी बातों के रहने पर भी, यदि एक शब्द आज

कहा जाए, दूसरा कल और तीसरा परसों तो उसे वाक्य नहीं कहा जाएगा।
5. अन्विति–का अर्थ है व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता। अंग्रेज़ी में इसे कान्कार्डेन्स कहते हैं। विभिन्न भाषाओं में इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। यह समानरूपता प्रायः वचन, कारक, लिंग और पुरुष आदि की दृष्टि से होती है। हिन्दी में क्रिया प्रायः लिंग, वचन, पुरुष में कर्ता के अनुकूल होती है। 'सीमा गये' न तो ठीक वाक्य है और न 'राम जा रही है', क्योंकि यहाँ न तो 'सीता' और 'गये' न तो ठीक वाक्य है और 'जा रही है' में। अंग्रेज ी में क्रिया पुरुष, वचन की दृष्टि से कर्ता के अनुसार होती है, किन्तु लिंग की दृष्टि से नहीं। प्राचीन भाषाओं में विशेषण और विशेष्य में भी अन्विति मिलती है। संस्कृत में 'सुन्दरं फलम् किन्तु 'सुन्दरः बालकः'। लैटिन में अच्छी लड़की, अच्छा लड़का। हिन्दी में आकारांत विशेषणों में ही ऐसा होता है। जैसे अच्छा लड़का, अच्छी लड़की। अन्य में नहीं, जैसे चतुर लड़का, चतुर लड़की। अंग्रेज़ी में विशेषण-विशेष्य अन्विति बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार इस भाषा में अन्विति के अपने नियम होते हैं।

मीमांसकों के सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य में आकांक्षा, (अन्विति भी इसमें समाहित) तथा आसत्ति में तीन अपेक्षित हैं।

वाक्य के अंग

वाक्य के दो अंग होते हैं–

1. उद्देश्य–वाक्य का वह अंग अथवा अंश जिसके बारे में वाक्य के शेषांश में कुछ कहा गया हो। जैसे 'लड़का गया' में 'लड़का'। उद्देश्य में 'केन्द्रीय शब्द' तथा 'उसका विस्तार' आ सकता है। 'लड़का गया' में 'लड़का' केन्द्रीय शब्द है, किन्तु 'राम का लड़का गया' में 'राम का' उसका विस्तार है और उद्देश्य है 'राम का लड़का'।

2. विधेय–वाक्य का वह अंश है जो उद्देश्य के बारे में सूचना दे। इसमें क्रिया और उसका विस्तार होता है। 'लड़का गया' में 'गया', 'लड़का घर गया' में 'घर गया' तथा 'लड़का अभी घर गया है' में 'अभी घर गया है' विधेय है।

उद्देश्य-विधेय का वर्गीकरण विश्व की काफी भाषाओं पर लागू होता है, किन्तु सभी भाषाओं पर नहीं होता।

वाक्य-रचना

वाक्य की रचना पदों से होती है। इस रचना में मुख्यतः चार बातें ध्यान देने की होती हैं–

पदक्रम या शब्दक्रम–विश्व में काफी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें 'पदक्रम' का वाक्य-रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में तो यह

बहुत ही महत्वपूर्ण है, किन्तु अंग्रेजी, हिन्दी आदि वियोगात्मक भाषाओं में भी इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें एक सीमा तक वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित है। जैसे हिन्दी में प्रायः कर्ता पहले, बाद में तथा क्रिया वाक्य के अंत में आती है–

राम ने मोहन को मार डाला।

इसके विपरीत अंग्रेजी में क्रिया बीच में आती है तथा कर्म बाद में–

रंउ ापससमक डवींदण

इसी प्रकार विशेषण-विशेष्य, क्रियाविशेषण-क्रिया, एक साथ आए कई विशेषण अथवा क्रियाविशेषण, पदबंधों तथा उपवाक्यों का भी हर भाषा में विशेष क्रम होता है। वाक्य में पद-क्रम की दृष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जिनमें वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित नहीं है। इन भाषाओं में शब्दों में विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द को उठाकर कहीं रख दें, अर्थ में परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं, जिनमें वाक्य में शब्द का क्रम निश्चित रहता है।

वाक्य–'अन्वय' का अर्थ है व्याकरणिक अनुरूपता। विभिन्न भाषाओं में विशेषण-विशेष्य, कर्ता-क्रिया तथा कर्ता-क्रिया विशेषण आदि विभिन्न व्याकरणिक कोटियों में लिंग, वचन, पुरुष तथा मूल और विकृत रूप आदि की अनुरूपता होती है। यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं–(क) हर भाषा के अन्वय के नियम अलग-अलग होते हैं। (ख) अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग चीजों का अन्वय होता है। जैसे संस्कृत में कर्ता-क्रिया में लिंग का अन्वय नहीं है, किन्तु हिन्दी में है–

रामः गच्छति–राम जाता है।

सीता गच्छति–सीता जाती है।

ऐसे ही हिन्दी में विशेषण में भी वचन तथा लिंग का अन्वय हैं, किन्तु अंग्रेजी में नहीं है।

लोप-वाक्य रचना में सभी अपेक्षित शब्दों का प्रयोग सर्वदा नहीं किया जाता। कभी-कभी कुछ का लोप भी हो जाता है। किन्तु यह लोप कुछ ही का हो सकता है और वे निश्चित होते हैं। 'राम जा रहा है'। वाक्य का नकारात्मक रूप होगा 'राम नहीं जा रहा' यहाँ 'है' का लोप है।

इसी तरह 'राम' जाता है। का नकारात्मक रूप पहले होता था–

'राम नहीं जाता है।' किन्तु अब होता है 'राम नहीं जाता।'

बोलचाल में केवल मुख्य सूचक शब्द अथवा शब्दों का ही प्रयोग करते हैं,

बाकी का लोप कर देते हैं–

गौतम–तुम कहाँ गये थे?

हरि–घर। ('गया था' का लोप है)

लोप कई प्रकार का हो सकता है, और उतने ही प्रकार के अध्याहार भी होते हैं–1. कर्त्ता का–सुना है उसका भाई मर गया, देखते हो कि अपनी ही जान संकट में है क्या करूँ और क्या न करूँ? 2. कर्म का–मोहन आम लाया है, तुम भी लाओ। करण आदि कुछ अन्यों का भी हो सकता है। 3. क्रिया का–लोकोक्तियों में ऐसा प्रायः होता है। घर की मुर्गी दाल बराबर, घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध। राम नहीं जा रहा, राम अब नहीं गाता। 4. वाक्यांश का–अ. प्रश्नोत्तर में प्रश्न–तुम्हारा नाम क्या है? उत्तर–मोहन ('मेरा नाम' का तथा 'है' का लोप तथा अध्याहार)। अ. अन्यत्र–वह ऐसा सीधा है जैसे गाय ('सीधी होती है' का)।

आगम्

कभी आवश्यक न होने पर भी कुछ अतिरिक्त 'शब्दों' का आगम कर दिया/लिया जाता है। कृपया यहाँ बैठिए, ऊपर सूरज की ओर देखिए। यदि बल देने के लिए अपेक्षित न हो तो ऐसे अतिरिक्त शब्दों से बचना चाहिए। कुछ ऐसे लोग कहते हैं–कृपया मेरे घर आने की कृपा करें, वह वापस लौट आया, वह सज्जन व्यक्ति है, मैंने विंध्याचल पर्वत देखा है। इस प्रकार के आगम एक प्रकार की पुनरुक्ति होते हैं।

पदबंध

जब एक से अधिक पद, एक में बँधकर एक व्याकरणिक इकाई का कार्य करें तो उस 'बंधी इकाई' को पदबन्ध कहते हैं।

उदाहरण के लिए–वहाँ पेड़ हैं।

सौरभ के मकान के चारों ओर पेड़ हैं।

आजकल 'पद' शब्द के स्थान पर भी 'पदबंध' शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भों में हो रहा है।

वाक्यों के प्रकार

(अ) पीछे भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके हैं। संसार की सभी भाषाओं पर विचार करने में हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओं में समय-समय पर ये चारों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं, अर्थात् विकास-चक्र के ये चार विराम मात्र हैं। किन्तु, अब यह चीज निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों में प्रयोग नहीं की जा सकती। यहाँ संक्षेप में वाक्य के इन चारों प्रकारों पर

पृथक्-पृथक् किया जा रहा है–

अयोगात्मक–अयोगात्मक वाक्य में शब्द अलग-अलग रहते हैं और उनका स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ सम्बन्धत्व दिखाने के लिए शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, अतः सम्बन्ध का प्राकट्य शब्दों के स्थान से ही होता है। यह पदक्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओं में प्रधान रूप में मिलती हे। भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओं में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। संस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भारोपीय भाषाएँ श्लिष्ट-योगात्मक थीं, किन्तु उनसे विकसित अंग्रेजी, हिन्दी और आधुनिक भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। पदक्रम यहाँ भी कुछ-कुछ निश्चित हो गया है–

राम मोहन को मारा।

मोहन राम को मारा।

दोनों शब्द एक ही हैं, किन्तु स्थान-परिवर्तन से अर्थ उलटा हो गया है। हिन्दी में भी लगभग यही बात है। किन्तु भारोपीय परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी आयोगात्मक नहीं हैं, अतः पदक्रम उतने निश्चित नहीं हैं। हिन्दी में कर्ता पहले और क्रिया बाद में आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में प्रश्नवाचक आदि वाक्यों में यह साधारण नियम टूट जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि भाषा अयोगात्मकता की ओर जितनी ही जाती है, उसके वाक्यों में पदक्रम का महत्व उतना ही बढ़ता जाता है। अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओं के विवेचन में दिया जा चुका है।

योगात्मक–प्रश्लिष्ट-योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने में उनका थोड़ा-थोड़ा अंश कट जाता है। मेक्सिकन भाषा में–

क = खाना

नकल्ल = माँस

नेवल्ल = मैं

तीनों को मिलाकर

नीनकक = मैं माँस खाता हूँ।

इन वाक्यों का विश्लेषण आसानी से नहीं किया जा सकता, इसी से इनके शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार की रचना प्रश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। योगात्मक के प्रश्लिष्ट, अश्लिष्ट और श्लिष्ट ये तीन प्रकार हो सकते हैं।

(अ) रचना के आधार पर वाक्य के निम्नलिखित भेद होते हैं–

सरल वाक्य–इसमें एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। जैसे 'लड़का गया'। हिन्दी आदि कुछ भाषाओं में सरल वाक्य पाँच प्रकार के होते हैं– 1. अकर्मकीय–सौरभ हँसता है। 2. एककर्मकीय–राजीव चावल खाता है। 3. द्विकर्मकीय–राजीव चावल खाता है। 3. द्विकर्मकीय–मुकुल अलका को पत्र लिखता है। 4. कर्तृ पूरकीय-फूल सुंदर है। 5. कर्मपूरकीय–संजय विजय को मूर्ख बनाता है।

उपवाक्य–जब दो या अधिक सरल वाक्यों को मिलाकर एक वाक्य बना देते हैं तो उस वाक्य में जो वाक्य मिले होते हैं, उन्हें उपवाक्य कहते हैं। उपवाक्य दो प्रकार के होते हैं–(क) आश्रित उपवाक्य–जो प्रधान न होकर गौण अथवा दूसरे के आश्रित हों। जैसे 'वह लड़का चला गया जो सबसे अच्छा था' में 'जो सबसे अच्छा था' आश्रित है। आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं–1. संज्ञा उपवाक्य–जो कर्म या पूरक रूप में संज्ञा का काम करे। जैसे–मैं जानता हूँ कि वह उत्तीर्ण नहीं हो सकता। 2. विशेषता उपवाक्य–जो किसी संज्ञा की विशेषता बतलाए। जैसे–वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा जो परिश्रम करेगा। क्रियाविशेषण उपवाक्य–जो किसी क्रिया की विशेषता बतलाए। जैसे जब भी वह मेरे सामने आती है, मेरा हृदय करुणा से भर जाता है। (ख) प्रधान उपवाक्य–किसी वाक्य में जो उपवाक्य आश्रित या गौण न होकर प्रधान हो। उपर्युक्त वाक्यों में आश्रित उपवाक्य के अतिरिक्त जो उपवाक्य हैं, प्रधान उपवाक्य हैं–वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा, जो परिश्रम करेगा। मिश्र वाक्य–जिसमें एक प्रधान उपवाक्य तथा एक या अधिक आश्रित उपवाक्य हों। जैसे–मैं चाहता हूँ कि तुम डाक्टर बनो।

संयुक्त वाक्य–जिस वाक्य में कोई भी उपवाक्य प्रधान अथवा आश्रित न हो। जैसे–गिलास हाथ से गिरा और टूट गया।

(इ) भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, जिनमें प्रधान नीचे दिए जा रहे हैं–

1. विधानसूचक–राम जाता है।
2. निषेधसूचक–राम नहीं जाता।
3. आज्ञासूचक–यह काम करो।
4. प्रश्नसूचक–तुम्हारा क्या नाम है?
5. विस्मयसूचक–अरे यह क्या किया।
6. संदेहसूचक–वह आया होगा।

7. इच्छासूचक–ईश्वर तुम्हें दीर्घायु करे।

(ई) भाषा में क्रिया स्थान प्रमुख है। वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य वर्तमान रहती है। संस्कृत, लैटिन आदि बहुत-सी पुरानी भाषाओं में तथा बँगला, रूसी आदि आधुनिक भाषाओं में बिना क्रिया के भी वाक्य मिलते हैं, किन्तु सामान्यतः वाक्य क्रियायुक्त होता है। इस प्रकार क्रिया के होने और न होने के आधार पर वाक्य दो प्रकार के हो सकते हैं–

क्रियायुक्त वाक्य–जिसमें क्रिया हो। कहना न होगा कि अधिकांश भाषाओं के अधिकांश वाक्य इसी प्रकार के होते हैं।

क्रियाविहीन वाक्य–जिसमें क्रिया न हो। संस्कृत, बँगला, रूसी आदि कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है, यद्यपि कुछ सीमित कालों में। यों समाचार-पत्रों के शीर्षकों ('देश की आजादी फिर खटाई में' या 'कुतुबमीनार से कूदकर आत्महत्या' आदि), लोकोक्तियों (जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ', 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और या 'आँख के अंधे नाम नयनसुख' आदि), विज्ञापनों (सुन्दर और मजबूत गाड़ी केवल-रुपये में आदि) तथा काव्य-भाषा में क्रियाहीन वाक्य प्रायः दिखाई पड़ते हैं।

वाक्य-रचना में परिवर्तन

किसी भाषा की वाक्य-रचना हमेशा एक-सी नहीं रहती। उसमें परिवर्तन आते रहते हैं। इसी तरह मूल भाषा की तुलना में उससे निकली भाषा की वाक्य-रचना में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत वाक्य-रचना में कर्ता या कर्म के लिंग का क्रिया पर प्रभाव नहीं पड़ता था, किन्तु संस्कृत से ही निकली हिन्दी में ऐसा प्रभाव पड़ता है–गच्छति, सीता गच्छति, राम जाता है, सीता जाती है।

वाक्य-रचना में परिवर्तन के कारण

किसी भाषा की वाक्य-रचना में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित हैं–

1. अन्य भाषा का प्रभाव– किसी अन्य भाषा के प्रभाव से भाषा की वाक्य-रचना प्रायः प्रभावित होती है, किन्तु ऐसा तभी होता है जब प्रभावित करने वाली भाषा प्रभावित भाषा के बोलने वालों के लिए अत्यावश्यक होकर उनके शिक्षा व्यवहार का महत्त्वपूर्ण अंग हो। मध्यकाल में मुगल दरबार की भाषा फारसी थी, अतः उसका पठन-पाठन काफ ी होता था। इसी कारण उसका हिन्दी की काव्य-रचना पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत अपभ्रंश में आदर के लिए बहुवचन के प्रयोग की परम्परा विशेष नहीं थी, किन्तु फारसी में यह परम्परा पूरी तरह से थी। उसी के प्रभावस्वरूप हिन्दी में यह परम्परा आई जिसका परिणाम

है–

मेरा चपरासी आ रहा है।

मेरे अध्यापक आ रहे हैं।

'कि' का प्रयोग भी हिन्दी पर फ़ारसी प्रभाव है–

मैं चाहता हूँ कि वह चला जाए।

अंग्रेज़ी ने भी हिन्दी को इसी तरह प्रभावित किया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। हिन्दी का एक वाक्य है–

वह आदमी जो कल आया था, चोर था।

इस वाक्य में 'वह' अंग्रेजी द की छाया है–

हिन्दी का प्राकृत वाक्य होगा–

जो आदमी कल आया था, चोर था।

इसी प्रकार कई संज्ञाओं या क्रियाओं के एक साथ आने पर अंतिम दो के बीच में 'और' का प्रयोग भी हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव है–

राम, मोहन और श्याम खेल रहे हैं।

मैं शेव करूँगा, नहाऊँगा और खाऊँगा।

भविष्य काल के लिए अपूर्ण वर्तमान का हिन्दी में प्रयोग भी अंग्रेजी का प्रभाव है। उदाहरण के लिए ऐसे वाक्य खूब चलते हैं–

(क) प्रधानमंत्री अगले महीने यूरोप जा रही हैं।

(ख) पिता जी कल आ रहे हैं।

(ग) अगले सप्ताह शहर में सरकस आ रहा है।

ध्वनि-परिवर्तन से विभक्तियों और प्रत्ययों का घिस जाना–विभक्तियों के घिस जाने से अर्थ को समझने में कठिनाई होने लगती है, अतः वाक्य में सहायक शब्द (परसर्ग, सहायक क्रिया) जोड़े जाने लगते हैं, साथ ही वाक्य में पदक्रम निश्चित हो जाता है।

नवीनता

नवीनता के लिए कभी-कभी नये प्रयोग चल पड़ते हैं। उनसे भी वाक्य-रचना-पद्धति में परिवर्तन आते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'पात्र' का प्रयोग संज्ञा के बाद होता रहा है, तब नवीनता के लिए संज्ञा के पहले इसका प्रयोग होने लगा है–

मुझे दस रुपये मात्र चाहिए : मुझे मात्र दस रुपये चाहिए।

इसी तरह ऐसे विशेषण पदबंध जो संज्ञा शब्दों में पहले आते रहते हैं, अब

बाद में रखे जाने लगे हैं–

(क) रात भर की बात : बात रात भर की।

(ख) तीन दिन की बादशाहत : बादशाहत तीन दिन की।

बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन–युद्धकालीन, शांतिकालीन या प्रसन्न व्यक्ति की, दुखी व्यक्ति की वाक्य-रचना एक नहीं होती। वस्तुतः वाक्य-रचना वक्ता की मानसिक स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

संक्षेप–नहीं जाता है–नहीं जाता।

बल के लिए क्रम-परिवर्तन–जाऊँगा तो-जाऊँ तो गा, कानपुर ही-कान ही पुर–

वाक्य-रचना में परिवर्तन की दिशाएँ

वाक्य-रचना में परिवर्तन मुख्य रूप से निम्नांकित रूपों या दिशाओं में होता है–

वचन-संबंधी परिवर्तन–भाषाओं के विकास में वाक्य-रचना में वचन-संबंधी परिवर्तन प्रायः हो जाते हैं। संस्कृत में द्विवचन भी था, अतः दो के लिए अलग कारकीय रूप होते थे और उसके साथ क्रिया के द्विवचन के रूप प्रयुक्त होते थे, हिन्दी में आते-आते द्विवचन का लोप हो गया तो 'दो' की संख्या 'बहुवचन' कारकीय रूप में लगाकर द्विवचन का भाव व्यक्त किया जाने लगा।

लिंग-संबंधी परिवर्तन–संस्कृत में कर्ता या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया-परिवर्तित नहीं होती थी, किन्तु हिन्दी में परिवर्तित होती है–

रामः गच्छति > राम जाता है।

सीता गच्छति > सीता जाती है।

पहले हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रयोग था–

अब हम जा रही हैं।

अब प्रायः लड़कियाँ और महिलाएँ प्रयोग करने लगा हैं–

हम जा रहे हैं–

पंजाबी लोग हिन्दी में 'माताजी आ रहे हैं' जैसे प्रयोग करते हैं, जो अशुद्ध है।

पुरुष-संबंधी परिवर्तन–पहले प्रयोग चलता था–राम ने कहा कि मैं जाऊँगा-अब अंग्रेजी के प्रभाव से सुनन में आने लगा है राम ने कहा कि वह जाएगा।

लोप–पूर्ववर्ती प्रयोगों में कुछ लुप्त हो जाने से वाक्य अपेक्षाकृत छोटे हो जाते हैं। जैसे हिन्दी में–

प्राचीन प्रयोग—राम नहीं आता है।

नया प्रयोग—राम नहीं आता।

आगम— अतिरिक्त शब्दों के आ जाने से वाक्य बड़े हो जाते हैं। हिन्दी में पुराना प्रयोग था—

राम ने कहा मैं जाऊँगा।

फ़ारसी प्रभाव के कारण 'कि' आ गया—

राम ने कहा कि मैं जाऊँगा।

हिन्दी का प्राकृत प्रयोग है—

जो लड़का आया था, चला गया।

अब अंग्रेजी प्रभाव के कारण एक अतिरिक्त शब्द 'वह' प्रयुक्त होने लगा है—वह लड़का जो आया था, चला गया।

पदक्रम में परिवर्तन—वाक्य-रचना इससे भी प्रभावित होती है। विभक्ति-लोप, नये प्रयोग आदि के कारण पदक्रम परिवर्तित होता रहता है। संस्कृत और हिन्दी की तुलना करें तो संस्कृत में पदक्रम बहुत निश्चित नहीं था, किन्तु हिन्दी में वह काफ ी निश्चित हो गया है। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। इधर हाल में भी हिन्दी में, पदक्रम-संबंधी कई परिवर्तन हुए हैं। दो का उल्लेख ऊपर हो चुका है— 1. मात्र संज्ञा के पूर्व प्रयोग-मात्र दस रुपये। 2. विशेषण पदबंध का संज्ञा के बाद प्रयोग—दुल्हन, एक रात की। बल देने के लिए हिन्दी में पदक्रम में काफ़ी परिवर्तन किये जाते हैं।

अर्थ विज्ञान सिद्धान्त

जैसा कि नाम से स्पष्ट है—अर्थविज्ञान 'अर्थ का विज्ञान' है। इसमें भाषा के अर्थ-पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। अर्थविज्ञान वर्णनात्मक (संरचनात्मक), ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक—इन तीनों प्रकारों का होता है।

अर्थविज्ञान का यह एक मूलभूत प्रश्न है कि अर्थ क्या है? वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं—

यस्मिंस्तुच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थःप्रतीयते।

तमाहुरर्थ तस्थैव नान्यर्थस्य लक्षणम्।।

अर्थात् 'शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है, अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि की बात अपने स्थान पर ठीक होते हुए भी कुछ आलोचना की अपेक्षा रखती है। क्या अर्थ केवल 'शब्द' का ही होता है? राम मारे शर्म के पानी-पानी हो गया' में 'पानी-पानी हो' शब्द तो नहीं है, किन्तु यहाँ अर्थ की अपेक्षित प्रतीति केवल 'पानी' शब्द से नहीं हो सकती। वह

'पानी-पानी होना' से ही हो सकती है। अतः कहा जा सकता है कि 'किसी भी भाषिक इकाई को किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।'

अर्थ की प्रतीति

अर्थ की प्रतीति दो प्रकार से होती है–

आत्म-अनुभव से– अर्थात् स्वयं किसी चीज़ का अनुभव करके। उदाहरण के लिए 'चीनी मीठी होती है' में मीठी के अर्थ की प्रतीति स्वयं चीनी चखने से हो जाती है। पानी, गर्मी, धूप के अर्थ की प्रतीति भी इसी प्रकार हो सकती है।

पर-अनुभव से–अनेक क्षेत्र ऐसे भी होते हैं जहाँ हमारी पहुँच नहीं होती, उस क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दादि के अर्थ की प्रतीति के लिए दूसरों के अनुभव या ज्ञान पर निर्भर करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, हममें से अनेक लोगों ने 'जहर नहीं देखा होगा, किन्तु दूसरों से ऐसा सुन रखा है कि ज   हर जीव को मार डालने वाला होता है। अतः 'जहर' शब्द के अर्थ की प्रतीति का मूलाधार आत्म-अनुभव न होकर पर-अनुभव है। ऐसे ही आत्मा, ईश्वर आदि अन्य भी अनेक प्रकार के शब्द हो सकते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

भाषा में यह प्रश्न अनादि काल से उठता रहा है कि शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है। क्यों 'पानी' कहने से 'पानी' का ही बोध होता है, 'मिट्टी' या 'काठ्' का नहीं। क्या 'पानी' शब्द और द्रव्य का कोई संबंध है? पहले हम देख चुके हैं कि 'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था है।' इसका अर्थ यह है कि भाषा के शब्द प्रतीक हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो शब्द और अर्थ का कोई स्वाभाविक एवं सहज संबंध नहीं है। समाज ने यह संबंध मान लिया है, या कहें कि समाज ने विभिन्न शब्दों को विभिन्न अर्थों में प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिया है। शब्द विशिष्ट अर्थों के प्रतीक या संकेत हैं, इसीलिए उन शब्दों के प्रयोग से श्रोता उन्हीं अर्थों को ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए, समाज ने 'पानी' शब्द को या 'प्. आ. न. ई' ध्वनियों के समूह को 'पानी' द्रव्य के लिए संकेत या प्रतीक मान रखा है, इसीलिए पानी कहने से उसी का बोध होता है, किसी और चीज का नहीं। किन्तु यदि कल हिन्दी-भाषी समाज यह निर्णय कर लें कि 'पानी' शब्द किसी और वस्तु का वाचक माना जाएगा तो कल से 'पानी' शब्द का अर्थ पानी न रहकर वही वस्तु हो जाएगा। हम जानते हैं कि 'बाथरूम', 'ट्वॉयलेट', 'क्लोकरूम' के अर्थ इसी प्रकार मान लेने से बदल गये हैं। भारतीय परम्परा में इसी को दृष्टि में रखते हुए शब्द के साथ किसी

वस्तु के संबंध-स्थापन को संकेत-ग्रह कहा गया है। संकेत-ग्रह के कारण ही शब्द अर्थविशिष्ट का बोध कराता है।

अर्थबोध के साधन—भारतीय परम्परा में अर्थबोध के आठ साधन माने गए हैं—

1. **व्यवहार**—व्यवहार अर्थबोध का सबसे प्रमुख साधन है। समाज में तरह-तरह के व्यवहार से भाषा के अनेक शब्दों के अर्थ का हमें बोध होता है।

2. **कोश**—अनेक शब्दों का अर्थबोध हमें कोशों से होता है। कोश ज्ञात शब्दों के अर्थ के आधार पर अज्ञात शब्द का अर्थबोध कराते हैं।

3. **व्याकरण**—व्याकरण से भी अर्थबोध होता है। उदाहरण के लिए, हमें पता हो कि मानव का अर्थ क्या है और यह भी पता हो कि हिन्दी में 'ता' प्रत्यय भावबोध क संज्ञा बनाने के लिए आता है तो हम 'मानवता' का अर्थ जान जाएँगे।

4. **प्रकरण**—इसे 'वाक्य-शेष' भी कहा गया है। अनेकार्थी शब्दों का विशेष प्रयोग में प्रकरण या संदर्भ से अर्थ ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, धातु का व्याकरण में एक अर्थ है, किन्तु सामान्यतः सोना-चाँदी आदि धातुएँ हैं। इसी प्रकार 'गोली' एक प्रकरण में 'बन्दूक की गोली' है तो दूसरे प्रकरण में 'दवा की गोली', तीसरे सन्दर्भ में 'गोलकीपर' और चौथे में बच्चों के खेलने की 'गोली'।

5. **व्याख्या**—इसे 'विवृति' भी कहा गया है। बहुत से शब्दों का अर्थबोध व्याख्या के द्वारा ही कराया जा सकता है। जैसे भाषा विज्ञान का 'अघोष', दर्शन का 'विशिष्टाद्वैत', या साहित्यशास्त्र की 'ध्वनि'।

6. **उपमान**—किसी वस्तु के समान वस्तु का अर्थबोध उस वस्तु को उपमान बनाकर कराया जा सकता है। जैसे गदहे या घोड़े से खच्चर, कुत्ते से भेड़िया, गाय से नीलगाय आदि का।

7. **आप्तवाक्य**—महान्, विद्वान, प्रसिद्ध, सिद्ध या पहुँचे हुए लोगों के वाक्य भी कभी-कभी अर्थबोध कराते हैं। अस्थावान् लोगों का ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे शब्दों का अर्थबोध मुख्यतः धर्मग्रन्थों पर आधारित है।

8. **ज्ञात का सान्निध्य**—ज्ञात शब्दों के सान्निध्य से भी कभी-कभी अज्ञात शब्द का अर्थबोध हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य लें : 'बासमती का भात, श्यामजीरा से अच्छा होता है'। इस वाक्य का पाठक बासमती और भात के सान्निध्य से समझ जाएगा कि श्यामजीरा किसी चावल का नाम है। इनके अतिरिक्त—

9. **बलाघात**—(ओढ़ना-ओढ़ना)

10. **सुरलहर**–(मोहन गया? मोहन गया!)

11. अनुवाद, आदि कई अन्य साधनों से भी अर्थबोध होता है।

अर्थ-विज्ञान में यों तो अर्थ-संबंधी अनेकानेक विषयों पर विचार किया जाता है, किन्तु यहाँ कुछ थोड़े से मुख्य विषय ही लिए जा रहे हैं।

अर्थ-परिवर्तन

प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है, किन्तु यह 'अर्थ' सर्वदा एक नहीं रहता। उसमें परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत का शब्द आकाशवाणी लें। संस्कृत में इसका अर्थ 'देववाणी' है। तुलसी के समय में भी यही अर्थ था। रामचरितमानस (1-173-3) में आता है–'भैं अकासबानी तेहि काला', अर्थात् उस समय देववाणी हुई। अब आकाशवाणी का अर्थ परिवर्तन होकर 'रेडियो' हो गया है। संस्कृत का ही एक दूसरा शब्द जंघा लें। इसका प्रयोग संस्कृत भाषा में पैर के उस भाग के लिए होता है, और इसका अर्थ पैर का वह भाग होता है जो घुटने के ऊपर होता है। इस प्रकार जंघा का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। 'गँवार' शब्द का इतिहास भी अर्थ-परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। पालि भाषा में प्राप्त कर ग्रामदोरको से अनुमान लगता है कि संस्कृत में यह शब्द 'ग्रामदारक' रहा होगा, जिसका अर्थ था 'गाँव का रहने वाला', 'गाँव का लड़का' अथवा 'गाँव वाला'। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में यह शब्द गँवार, गँयार, गमार आदि रूपों में मिलता है तथा इसका अर्थ 'असभ्य' और 'मूर्ख' हो गया है। तो हमने देखा कि आकाशवाणी, जंघा तथा गँवार का अर्थ कुछ-से-कुछ हो गया है। अर्थ में परिवर्तन हो जाना ही अर्थ-परिवर्तन है।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ (प्रकार)

'अर्थ-परिवर्तन किन-किन दिशाओं में होता है', अथवा 'उसके कितने प्रकार होते हैं', इस विषय पर सबसे पहले फ्रांसीसी भाषाविज्ञानवेत्ता ब्रील ने विचार किया था। उन्होंने तीन दिशाओं की खोज की : अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थदेश। अभी तक ये ही दिशाएँ अथवा प्रकार बहुस्वीकृत हैं।

अर्थ-विस्तार–अर्थ-विस्तार का अर्थ है अर्थ का सीमित क्षेत्र में निकल विस्तार पा जाना। उदाहरण के लिए, संस्कृत का एक शब्द है तैल जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस'। अर्थात् संस्कृत में मूलतः, 'तिल के तेल' को ही 'तैल' कहते थे। यही इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं का तेल शब्द इसी तैल से विकसित है, किन्तु इसका अर्थ विस्तृत हो गया है। तैल का मूल अर्थ था 'तिल का तेल', किन्तु तेल का प्रयोग अब सभी चीजों के तेल के लिए होता है, तिल, सरसों, अलसी, गरी अथवा गोला, मूँगफली आदि, बिनौला और यही क्यों?

मछली का तेल, साँप का तेल, मिट्टी का तेल और तो और, यदि किसी को दोपहर की चिलमिलाती धूप में कहीं किसी काम से भेज दें तो वह लौटकर पसीने से लथपथ शिकायत करेगा—साहब, आपने तो मेरा तेल निकाल लिया। तो हमने देखा कि तेल के अर्थ का विस्तार हो गया। कहाँ तो वह केवल तिल के तेल का अर्थ देता था और कहाँ सभी चीजों के तेल का अर्थ देने लगा। विशेष से सामान्य हो गया। टकर का कहना है कि अर्थ-विस्तार नहीं होता। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। होता है और खूब होता है।' 'सब्ज' का अर्थ है 'हरा'। पहले पालक, चौलाई, भिंडी जैसी हरी तरकारियों को उनके रंग के आधार पर 'सब्जी' कहते थे। अब 'सब्जी' शब्द के अर्थ में विस्तार हो गया है और सभी रंगों की सब्जियाँ 'सब्जी' कहलाने लगी हैं—टमाटर, गाजर, प्याज, बैंगन, सीताफल, शलजम, मूली। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अर्थ भी विस्तृत हो जाते हैं। शर्त एक है, वे व्यक्ति या तो बहुत अच्छे हों या बहुत बुरे हों—बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा। तो विभीषण, मंथरा, नारद, जयचंद, नादिरशाह, हिटलर आदि का प्रयोग उन सभी के लिए होता है जो इस प्रकार की प्रवृत्तियों के होते हैं। यों राम, सीता, सावित्री, गाँधी में भी अर्थ-विस्तार हुआ है, किन्तु इनको इसके लिए साधना करनी पड़ी थी।

कुछ उदाहरण हैं : अधर (मूल अर्थ 'नीचे का ओष्ठ', वर्तमान अर्थ 'दोनों ओष्ठ'), श्रीगणेश (मूल अर्थ किसी शुभ कार्य का आरम्भ जिसके प्रारम्भ में 'श्रीगणेशायः नमः' कहते थे, अब किसी भी अच्छे-बुरे कार्य का प्रारंभ), इतिश्री (संस्कृत-लेखक अपनी कृति के अंत में पुष्पिका में लिखते थे 'इति श्री कृतं समाप्तम्' आदि, अब किसी भी काम की समाप्ति 'इतिश्री' है), महाराज (पहले केवल महाराजा, अब खाना बनाने वाला ब्राह्मण भी), पंडित (पहले विद्वान व्यक्ति, इसीलिए पांडित्य = विद्वता, अब विद्वान् के साथ-साथ ब्राह्मण मात्र), कल (सं. कल्य = आने वाला कल, हिन्दी कल = आने वाला तथा बीता हुआ कल), परसों (सं. परश्वः = आने वाला परसों, हिं परसों = आने वाला तथा बीता हुआ परसों), अभ्यास (सं. में 'अभ्यास') (अभि. अस) का मूल अर्थ है बार-बार फेंकना अथवा सैनिक अभ्यास, यास्क में इसका प्रयोग 'आवृत्ति' के अर्थ में है, हिन्दी में अब केवल बाण फेंकने का ही नहीं, बल्कि सभी कार्यों का अभ्यास (किया जाता है, जा सकता है), गवेषणा (मूल अर्थ 'गो' की 'एषणा' अर्थात् 'गाय' की 'इच्छा' अथवा 'गाय की खोज' है, अब किसी भी प्रकार की 'खोज' 'गवेषणा' है), निपुण (मूल अर्थ शुभ कार्य करने में प्रवीण—नि. पुण. क, अब किसी भी कार्य को करने में प्रवीण), प्रवीण (मूलतः वीणा बजाने में पटु-प्रकृष्टो वीणायाम्, अब किसी भी कार्य में पटु), कुशल (मूल अर्थ कुश लाने या उखाड़ने में चतुर-कुशान् लानि, अब किसी भी काम में चतुर अथवा

पट्ट) आदि।

अर्थ संकोच– यह अर्थ-विस्तार का ठीक उल्टा है। इसमें अर्थ की परिधि पहले विस्तृत रहती है, फिर संकुचित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'मृग' का मूल अर्थ 'पशु' है। 'शिकार' का वाचक 'मृगया' तथा 'पशुओं के राजा' सिंह के लिए 'मृगराज' के प्रयोग में मूल अर्थ आज भी सुरक्षित है। किन्तु आगे चलकर इस शब्द के अर्थ में संकोच हो गया और सभी पशुओं का वाचक शब्द मृग केवल 'हिरन' का वाचक हो गया। यह अर्थ संकोच संस्कृत में ही हो गया था। वस्तुतः अर्थ-संकोच में अर्थ 'सामान्य' से परिवर्तित होकर 'विशेष' हो जाता है। 'मृग' 'सामान्य पशु' से 'विशेष पशु' हो गया है। एक सिद्धांत यह है कि भाषा में मूलतः शब्द सामान्य के लिए थे, अर्थ संकोच द्वारा धीरे-धीरे विशेष के लिए शब्दों का निर्धारण हुआ। इसीलिए अर्थ-संकोच भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की संपन्नता का द्योतक है। मेरा अपना सिद्धान्त कुछ भिन्न है। अपवादों की बात छोड़ दें तो पहले भाषाओं में 'विशेष' के लिए ही शब्द थे और धीरे-धीरे 'सामान्य' के लिए अर्थ-विस्तार से शब्द निश्चित होते गए। ब्रील ने कहा है कि जो जाति जितनी उन्नति करेगी, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक मिलेगी। जलज मूलतः जल में जनमने वाली किसी भी चीज का वाचक रहा होगा, जैसे ही पंकज पंक में जनमने वाली हर चीज़ थी, किन्तु बाद में अर्थ-संकोच हुआ और ये दोनों शब्द केवल कमल के वाचक रह गये। विद्यार्थी मूलतः वे सभी लोग हैं जो 'विद्या' के 'अर्थी' हैं चाहे वे स्कूल में पढ़ते हों या न पढते हों, या सत्तर वर्ष के बुड्ढे हों। अब यह शब्द अर्थ-संकोच के कारण 'छात्र' का समानार्थी हो गया है। धान्य और यव मूलतः अन्न-मात्र के लिए प्रयुक्त होते थे। 'धन-धान्य' से पूर्ण जैसे प्रयोगों में 'धान्य' का वही अर्थ है। आगे चलकर ये दोनों शब्द अर्थ संकोच के कारण 'धान' तथा 'जौ' के वाचक हो गए। रदन (मूल अर्थ 'कोई भी जो फाड़े' बाद में दाँत), मंदिर (मूलतः कोई भी भवन, बाद में देव-भवन), सब्जी (मूलतः 'हरियाली' अथवा कोई भी हरी चीज, अब तरकारी), संध्या (मूलतः कोई भी संधि-काल, संध्या-गायत्री में वह अर्थ सुरक्षित है, अब केवल शाम), मीट (यह अंग्रेजी शब्द मूलतः 'खाद्य' का द्योतक था, 'मिठाई' को 'स्वटमीट' इसलिए कहते हैं, अब यह केवल एक खाद्य 'गोस्त' का वाचक है), भार्या (मूलतः जो भरण-पोषण करने योग्य हो, बाद में केवल स्त्री), वेदना (मूलतः 'सुखद वेदना' तथा 'दुखद वेदना', अब केवल दुखद वेदना), सूर्य (फ   ारसी में मूलतः पक्षी, शुतुरमुर्ग, शाहमुर्ग, मुर्गापीर जलपक्षी) में यही अर्थ, बाद में केवल एक पक्षी), पिल्ला (मूलतः द्रविड़ भाषाओं में 'बच्चा'। तेलुगु में आज किसी की भी बच्ची-मनुष्य, जानवर, पक्षी–को पिल्ला कहते हैं, जैसे–कुक्कपिल्ल–'कुत्ते का पिल्ला', हिन्दी में पिल्ला–कुत्ते

का बच्चा) आदि अन्य उदाहरण हो सकते हैं। इस प्रसंग में यह भी संकेत्य है कि शब्दों का धीरे-धीरे समय बीतने के साथ परिवर्तित होते-होते तो संकुचित होता ही है, उप-सर्ग (आचार-सदाचार, दुराचार) प्रत्यय (कुटी-कुटीर, देग-देगचा, बाग-बगीचा), विशेषण (अम्बर-नीलांबर, पीतांबर, श्वेताम्बर, घोड़ा-लाल घोड़ा, काला घोड़ा, छोटा घोड़ा, तेज घोड़ा) समास (अनुज-रामानुज, कृष्णानुज), संदर्भ का प्रसंग (रजि और खाने-पीने के प्रसंग में 'रस'-राम बहुत तेज लड़का है, चाकू बहुत तेज है, वह तेज दौड़ता है), पारिभाषिकीकरण (भाषाविज्ञान और गणित में 'समीकरण', काव्यशास्त्र एवं वैद्यक में 'रस', भाषा विज्ञान एवं काव्यशास्त्र में 'व्युत्पत्ति', 'ध्वनि', 'गुण', व्याकरण में 'विराम'), नामकरण ('कृष्ण'—मूल अर्थ 'काला' है, किन्तु वासुदेव का नाम पड़ने से अब 'कृष्ण' सभी कालों का बोधक न होकर केवल वासुदेव का है, शत्रुघ्न, क्षिप्रा-तेज बहने वाली घाघरा-घर्घर करती हुई बहने वाली, केशरी—केशों वाला, घुसपैठिया—मूलतः कोई भी, भारत-पाक-युद्ध के बाद 'भारत' में धुसने वाला पाकिस्तानी', अन्य भाषा से शब्द-ग्रहण ('शब्द' अपनी मूल भाषा के सभी अर्थों में दूसरी भाषा में प्रायः नहीं जाते, कुछ सीमित अर्थों में ही जाते हैं। अंग्रेजी में 'कॉलर' का प्रयोग मछली का टुकड़ा, आभूषण-विशेष आदि कई अर्थों में होता है, किन्तु हिन्दी में वह केवल एक अर्थ (कपड़ों का कॉलर) में प्रयुक्त होता है। फैशन आदि अन्य भी अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में 'धरा' का अर्थ योनि, गर्भाशय, शिरा, गूदा आदि भी था, किन्तु हिन्दी में केवल 'पृथ्वी' के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है) आदि के कारण तुरन्त एक क्षण में उसके अर्थ में संकोच आ जाता है।

अर्थादेश ;त्तंदेमितमदबम व डमंदपदहद्ध—भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को 'अर्थादेश' कहते हैं। ऊपर हम 'गँवार' शब्द ले चुके हैं। यहाँ हम देख चुके हैं कि 'गाँव वाला' अथवा 'गाँव का लड़का' अर्थ का वाचक शब्द धीरे-धीरे 'असभ्य' का वाचक हो गया। इसका उदाहरण 'असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओं में यह देववाची शब्द है, पर बाद में राक्षसवाची हो गया। 'वर' का अर्थ श्रेष्ठ था, पर अब इसका प्रयोग 'दूल्हे' के लिए होता है। स्वयं 'दूल्हा' शब्द भी इसी प्रकार का है। इसका मूल अर्थ 'जो जल्द न मिले' (= दुर्लभ था, पर अब यह 'वर' के नवीन अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।) ईरानी शब्द 'दिहकान' का मूल अर्थ 'देहात का बड़ा ताल्लुकेदार' है, पर उर्दू तथा फारसी-गुजराती में 'देहकानी' का अर्थ मूर्ख होता है। अशोक 'देवानां-प्रियः' कहा जाता था, पर बाद में इसका अर्थ 'मूर्ख'

हो गया। संस्कृत का 'वाटिका' शब्द बँगला में 'बाड़ी' हो गया है और इसका अर्थ बगीचे से हटकर 'घर' हो गया है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बौद्ध कहलाते हैं, पर 'बुद्धू' (जो उसी का रूपांतर है) का अर्थ मूर्ख होता है। **जंघा** (मूलतः जंघा = घुटने के नीचे का भाग, अब घुटने के ऊपर का भाग), **दुहिता** (मूल अर्थ 'दूध दुहने वाली' बाद में पुत्री–चाहे वह दूध दूहे अथवा नहीं), **आकाशवाणी** (मूलतः देववाणी, अब रेडियो), **तटस्थ** ('तट पर स्थित', अब किसी का भी पक्ष न लेने वाला), मुहावरों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, **तिलांजलि देना** (मूलतः मृत्यु के बाद हाथ में 'तिल और पानी' लेकर मृतक के नाम पर देना, अब 'छोड़ देना'), **खाट खड़ी करना** (मूलतः 'किसी के मरने पर उसकी मृत्यु होने के संकेतस्वरूप उसकी खाट उलटी खड़ी कर देना', अब 'दुर्दशा करना' अथवा 'ऐसी-तैसी कर देना' आदि)।

अर्थादेश के आगे कई भेदोभेद किए जा सकते हैं। यहाँ दो आधारों पर भेद किए जा रहे हैं–

(क) सूक्ष्मता-स्थूलता के आधार पर–शब्दों का अर्थ बदलते-बदलते कभी तो सूक्ष्म से स्थूल हो जाता है और कभी स्थूल से सूक्ष्म। इस आधार पर अर्थादेश दो प्रकार के हो सकते हैं : (1) **सूक्ष्मीकरण–कुर्सी** = पद, **हाथ लंबे होना** = पहुँच होना, **पानी** = इज्जत, **आँख की किरकिरी** = खटकने वाला, बुरा लगनेवाला, **नाक का बाल** = अत्यन्त प्रिय, **परदा** = दुराव, छिपाव, **रोटी** = जीविका, **जहर** = बुरा (मेरा कहना तो तुम्हें जहर लगता है), **हृदय** (अंग विशेष) = 'विशाल हृदय' अथवा 'हृदय-पक्ष' जैसे प्रयोगों में इनमें कुछ में अर्थ विस्तार की भी गंध आ सकती है। (2) **स्थूलीकरण–देवता** (मूलतः देव. ता = देवत्व) = देव, **यौवन** (भाववाचक संज्ञा), जोवन = स्तन, **सामग्री** (मूलतः 'संचय') = चीजें, वस्तुएँ, **लिंग** = पुरुष, चिह्न, **पुराण** (प्राचीन) = पुराण ग्रंथ, **उपनिषद्** (गुरु के चरणों के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए बैठना) = ग्रंथ-विशेष। **मिठाई** (मूलतः 'मिठास') = मिष्ठान, **खटाई** (मूलतः 'खटास') = आम, इमली आदि से बनी वस्तु। इनमें कुछ में अर्थ-संकोच की भी गंध आ सकती है। वस्तुतः सूक्ष्म अपेक्षाकृत विस्तृत तथा स्थूल अविस्तृत होता है। (ख) **अपकर्षोत्कर्ष के आधार पर**–शब्दों का अर्थ परिवर्तित होते-होते, सामाजिक दृष्टि से कभी तो ऊपर उठ जाता है, कभी ज्यों-का-त्यों रहता है तथा कभी नीचे गिर जाता है : ;पद्ध **अर्थोत्कर्ष**–अर्थ बदलते-बदलते सामाजिक दृष्टि से पहले से अधिक उन्नत हो जाना। **साहस** संस्कृत में बहुत अच्छा शब्द नहीं था। उसका अर्थ लूट, हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि था। स्मृतियों में उसकी गणना अपराधों में की गई है : मनुष्यमारणं चौर्य परदाराभिमर्शनम्। पारुष्यमुभयं चेनि साहसं नयाच्चतुर्विधम। (वृहस्पति-स्मृति)। किंतु अब साहस का अर्थ हिम्मत है। किसी को साहसी कहा

जाय तो यह अपनी प्रशंसा समझकर प्रसन्नता से फूला नहीं समाएगा। **कर्पट** का अर्थ संस्कृत में फटा-पुराना कपड़ा था (फटच्चरं जीर्ण वस्त्रं समौ लक्तककर्पटौ।– अमरकोश), किंतु अब 'कर्पट' से ही विकसित 'कपड़ा' का प्रयोग अच्छे वस्त्र के लिए भी होता है। **मुग्ध** का संस्कृत में अर्थ 'मूढ़' अथवा 'मूर्ख' था। वोपदेव ने अपनी व्याकरण का नाम 'मुग्धबोध' रखा था, अर्थात जो 'मूढ़ को भी बोध करा दे।' अब 'मुग्ध' में मूढ़ता बिल्कुल नहीं है। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति किसी अच्छाई पर मुग्ध हो सकता है। **सभ्य** का सीधा अर्थ था 'सभा के योग्य' अथवा 'सभा में बैठने योग्य।' अब 'सभ्य' प्रशंसासूचक शब्द है। **गोष्ठी** का मूल अर्थ था 'गो के रहने का स्थान'। भोजपुरी में आज भी गाय-भैंस के आराम करने की जगह को 'घोट्ठा' कहते हैं। अब 'गोष्ठी' पशुओं की न होकर विद्वानों, साहित्यकारों तथा कवियों की होती है। यास्क के अनुसार **कक्ष** पहले घोड़े के कक्ष (काँख) को कहते थे, बाद में साहचर्य के आधार पर आदमी के 'कक्ष' के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। ;पपद्ध **ज्यों-का-त्यों**–जैसे **वाटिका** (बगीचा) का बँगला में 'बाड़ी' **(घर, ठाकुरवाड़ी =** ठाकुर का घर, मंदिर)। ;पपपद्ध **अर्थापकर्ष**–अर्थ का उन्नत से अवनत हो जाना। **पाखंड**–मूलतः संन्यासियों के एक संप्रदाय का नाम था। अशोक इनका बड़ा आदर करता था, तथा इन्हें दान देता था। अब 'पाखंड' ढोंग का वाचक है। **पुंगव** = मूल अर्थ श्रेष्ठ, अब उसी से 'पोंगा' = मूर्ख। **हरिजन** = मूल अर्थ भक्त, अब 'अछूत'। **बौद्ध** = मूल अर्थ बुद्ध का अनुयायी, इसी से बना है 'बुद्धू'। **वज्रवतुक** = मूल अर्थ पक्का ब्रह्मचारी, अब बजरबट्टू = मूर्ख। **नग्न-लुंचित =** पहले जैन साधुओं के लिए आदर के साथ प्रयुक्त अब इन्हीं का विकास है नंगा-लुच्चा = लफंगा। **देवानामप्रिय =** मूलतः महाराज अशोक जो देवी को प्रिय थे, बाद में संस्कृत में ही 'मूर्ख'। (ग) **वाग्भाग के आधार पर बुढ़ापा** (भाववाचक संज्ञा, किन्तु अवधी में विशेषण : बुढ़ापा मनई, बूढ़ा मनुष्य।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार

मनुष्य की मनःस्थिति में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक से नहीं रह पाते। भाषा विचारों की वाहिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार करना आसान नहीं है, क्योंकि वे इतने संयुक्त और गुंथे रहते हैं कि उनका निश्चित स्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ता। एक शब्द के अर्थ-परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पड़ता है, तो कभी दूसरा। फिर भी, एक बात तो निश्चित सी है कि सादृश्य, बल तथा भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अर्थ-परिवर्तनों

में अधिक कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं, किन्तु इनका भी प्रभाव सीधा न पड़कर उन्हीं के रास्ते पड़ता है। यों कभी-कभी व्यक्ति या संप्रदाय में विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। नीचे इस सम्बन्ध में कुछ कारणों पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ एक बात ध्यान में रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द में एक ही कारण काम नहीं आ सकता, इसी कारण, एक कारण के उदाहरणों में अन्य कारणों की भी गंध मिल सकती है। कारणों के इस संयुक्त कार्य के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणों में भी यहाँ दिये गये हैं, किन्तु अपने-अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट दिया गया है। इन कारणों में कई को एक में मिलाकर कुछ कम वर्ग भी बनाये जा सकते हैं, लेकिन स्पष्टता की दृष्टि से यहाँ ऐसा नहीं किया गया।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

बल का अपसरण—किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगें तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड़कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्यायजी परिवर्तित होकर 'ओझा' इसी बल के अपसरण के कारण हुए हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ में भी यह 'बल' कार्य करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर, बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है, और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव-साहचर्य का ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमें समीपवर्ती दो भावों में एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। 'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत-सी गायों का स्वामी'। बहुत-सी गायों का स्वामी' 'धनी' होगा, अतः 'माननीय' भी होगा। इसी प्रकार, धीरे-धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वहीं एक और भावना कार्य करने लगी। वह भावना यह थी कि जो अधिक गायों की सेवा करेगा, वह धर्मपरक भी होगा। इस प्रकार, बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायों के स्वामी' के अर्थ से चलकर 'मानवीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ में यह मध्ययुगीन सन्तों के नाम के साथ प्रयुक्त होता है। यों बाद में 'गोस्वामी' की व्याख्या 'इन्द्रियों का स्वामी' के अर्थ में भी की गयी, लेकिन वह बाद में व्याख्या मात्र है। मूल अर्थ वह था नहीं। अब तो गोस्वामी या गोसाईं नाम की एक जाति भी हो गई है। 'जुगुप्सा' शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द 'गुपू' धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था 'रक्षा करना', पालन करना'। 'रक्षा' या 'पालन'

छिपाकर भी किया जाता है। अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों में यही भाव प्रधान हो गया। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है, जो घृणित होती है, अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। अरबी का शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' ये दोनों भी इसी प्रकार के हैं। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है, किन्तु बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है। लड़के नौकर रक्खे जाते थे तथा वे प्रायः बन्दी जैसे रहते थे, अतः उसी पर बल पड़ते-पड़ते अरबी का 'गुलाम' उधर पहुँचा, और नौकर शरारती और बदमाश होते हैं, अतः उस पर बल पड़ते-पड़ते 'नेव' बेचारा शरारती और बदमाश का अर्थ देने लगा। 'ड्रेस' का प्राचीन अर्थ है सीधा। फ्रेंच में अब भय यह अर्थ है। यह या शहतीर को सीधा करने के लिए काटना-छाँटना पड़ता था, अतः 'सफाई करना' अर्थ हुआ। फोड़े घाव की ड्रेसिंग में वही अर्थ है। चमड़े की सफाई भी की जाती थी, जूता आदि बनाने के लिए, अतः ड्रेस में 'तैयार करने' का अर्थ आया। सलाद को 'ड्रेस' अब भी करते हैं। बाल भी ड्रेस करने लगे, अतः इसमें सजाने का भाव आया और 'ड्रेस' सजाने वाला कपड़ा हो गया। हिन्दी में 'दरेसी' में कटाई-छँटाई का भाव अब भी है।

वातारण में परिवर्तन– वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। वातावरण कई प्रकार के हो सकते हैं, अतः सभी को अलग-अलग लेना उचित होगा। जैसे–भौगोलिक वातावरण, सामाजिक वातावरण, प्रथा या प्रचलन सम्बन्धी वातावरण, नम्रता प्रदर्शन, आधार सामाग्री के आधार पर वस्तु का नाम, निर्माण क्रिया के आधार पर वस्तु का नाम, शब्द का एक भाषा से दूसरी भाषा में जाना, जान-बूझकर नये अर्थों में प्रयोग, अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग, अशुमया बुरा, अश्लील, कटुता या भयंकरता, अंधविश्वास गंदे या छोटे कार्य, अधिकांश शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग, सादृश्य, अज्ञान, पुनरावृत्ति, एक शब्द को दो स्थानों का प्रचलन, शब्दों का अधिक प्रयोग, एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन, साहचर्य आदि के कारण अर्थ का प्रयोग, किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य, व्यङ्ग्य, भावावेश, व्यक्ति योग्यता, शब्दों में अर्थ का अनिश्चय, सामान्य के लिए विशेषता प्रयोग, आलंकारिक यह लाक्षाणिक प्रयोग तथा दूसरी भाषा के प्रभाव आदि अनेकों अर्थपरिवर्तन के कारण है।

4

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का स्वरूप

वैदिक और लौकिक संस्कृत का स्वरूप साम्य और वैषम्य

भारतीय आर्य भाषा—भारत में आर्य भाषा के प्रारम्भ का बहुत निश्चित काल देना तो सम्भव नहीं है, किन्तु मोटे तौर से यह माना जा सकता है कि 1500 ई.पू. के आस-पास से इसका प्रारम्भ होता है। तब से आज तक भारतीय आर्य भाषा की आयु लगभग साढ़े तीन हजार वर्षों की हो चुकी है। भाषिक विशेषताओं के आधार पर भारतीय आर्य भाषा की इस लम्बी आयु को 3 कालों में बाँटा गया है, और तीनों कालों में आर्य भाषा को तीन नामों से अभिहित किया गया है।

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा.भा.आ.) 1500 ई.पू.—500 ई.पू.
2. मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (म.भा.आ.) 500 ई.पू.—1000 ई.
3. आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ.भा.आ.) 1000 ई.—अब तक।

प्राचीन आर्य भाषा— आर्य जब भारत में आये, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, प्रभाव, विशेषतः आर्येत्तर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी-भाषा ईरानी से कई बातों में अलग हो गयी। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इनमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो शब्द में नहीं मिलते। वैदिक संहिताओं का काल मोटे रूप में 1200 ई.पू. से 900 ई.पू. के लगभग है। यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ की भाषा बहुत पूर्ववर्ती है, तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकेले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मण्डलों की भाषा तो बाद की है, और शेष की पुरानी। सही पुरानी भाषा अपेक्षाकृत अवेस्ता के निकट है। अन्य संहिताएँ (यजु, साम, अथर्व) और बाद की हैं। वैदिक संहिताओं की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न है क्योंकि यह काव्य-भाषा है। उस समय तक आर्यों का केन्द्र सप्तसिन्धु या आधुनिक पंजाब था, यद्यपि पूर्व में वे बहुत आगे तक पहुँच गये थे। ब्राह्मणो उपनिषदों की

भाषा कुछ अपवादों का छोड़कर संहिताओं के बाद की है। इसमें उतनी जटिलता एवं रूपाधिक्य नहीं। इनके गद्य भाग की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। इस समय तक आर्यों का केन्द्र मध्यदेश हो चुका था, यद्यपि इधर की भाषा उत्तर जितनी शुद्ध नहीं थी। इस भाषा का काल 900 से बाद का है। भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 700 ई.पू. के बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफ ी पास पहुँच गई है। यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग 5वीं सदी में पाणिनी ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लासिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि के रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना में इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलतः पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिए हुए है और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है। भाषा के जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि रामायण-महाभारत की भाषा पाणिनि के बाद की है। पुराने पुराणों की भाषा और भी परवर्ती है। फिर कालिदास से होते हुए क्लैसिकल संस्कृत हितोपदेश तक तथा और आगे तक आई है।

इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।

वैदिक– (1500 ई.पू. से 800 ई.पू. तक) इसे 'प्राचीन संस्कृत', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृत' या 'छन्दस' आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। संस्कृत का यह रूप, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। यों इन सभी में भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं, जिनको वैदिक की सामान्य विशेषताएँ माना जा सकता है। तत्कालीन बोलचाल की भाषा इसके समीप रही होगी, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि बोलचाल की भाषा के सभी रूप इसमें सुरक्षित हैं।

ध्वनियाँ–मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी से संस्कृत की (वैदिक तथा लौकिक) कुछ प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनियों का विकास किस रूप में हुआ, यहाँ देखा

जा सकता है। कुछ स्थानों पर तो भारोपीय के पुनर्निर्मित तारांकित रूप दिये गये हैं और कुछ में मात्र ग्रीक या लैटिन आदि के ही रूप दिये गये हैं। उक्त प्रकार के स्थानों में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत ग्रीक या लैटिन आदि के शब्दों या रूपों में प्रयुक्त सम्बद्ध ध्वनि मूल भारोपीय का प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरण के अभाव में कहीं-कहीं अवेस्ता आदि से ही तुलना करके संतोष करना पड़ता है। सं. अः (1) भारों. 'अ से (भारो. 'हमपए ग्री. हमपए अवे. पजपए सं. अजति, ग्री. हतवेए लै. हमतए अं. बतमए सं. अज्र)। (2) भारो. 'ह्रस्व ए से (भारो. 'मेजपए ग्री. मेजपए लै. मेजए अवे. जपलं अस्तिय, सं. अस्ति, लै. मुननेए अवे अस्प, सं. अश्व)। (3) भारो. ' ह्रस्व ओ से (भारो. 'चवजपेए ग्री. चवेपेए लै. चवजपेए अवे. पइतिशू, सं. पतिः, ग्री. कवउवेए लै. कवउनेए रूसी कवउए सं. दम)। (4) भारो. ' न् से (भारो. 'जदजवेए ग्री. जंजवेए सं. ततः)। (5) भारो. ' म् से (भारो. कमाउए ग्री. कमांए लै. कमबमउए गोथिक जंपीनउए सं. दश)।

स्वराघात–मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था, जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, बाद में वह संगीतात्मक हो गया, जिसने गुणिक अपश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा-परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था। भारत-ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को परम्परागत रूप से अनुदात्त, उदात्त, एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्व था कि सभी संहिताओं, कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा वृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पांडुलिपियाँ स्वराघात-चिह्नित् मिलती हैं और स्वराघात के वैदिक छन्दों को पढ़ना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। 'इन्द्रशत्रुः' वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है : इन्द्र, शत्रुः ꣳ जिसका शत्रु इन्द्र है। शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितना महत्त्व था, यह बेंकट माधव के 'अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इव' (अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, उसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट और संदेहशून्य होते हैं) कथन से स्पष्ट है। स्वराघात में परिवर्तन से कभी-कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता था।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैदिक स्वराघात तीन प्रकार के थे : उदात्त अर्थात् उच्च, अनुदात्त अर्थात् निम्न तथा स्वरित अर्थात् मध्य। उदात्त, अनुदात्त तो स्पष्ट है, किन्तु स्वरित विवादास्पद है (दे. लेखक के ग्रन्थ 'भाषा-विज्ञान कोश' में 'स्वरित')। यों मोटे रूप से 'समाहारः स्वरितः' के आधार पर स्वरित को उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में स्वराघात के अंकित करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में प्रायः उदात्त अचिह्नित मिलता है, अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा खींचते हैं तथा स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा, जैसे अग्निना। सामवेद में उदात्त के लिए 1, स्वरित के लिए 2, तथा अनुदात्त के लिए 3, लिखने की परम्परा रही है। बह्मर्षि। शतपथ ब्राह्मण आदि में केवल उदात्त को चिह्नित करते रहे हैं : पुरुषः।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक में मूल स्वराघात प्रायः उसी अक्षर पर है, जिस पर मूल भारोपीय में था : ग्रीक सं. तत्, सु, किन्तु विस्तार में बहुत अन्तर है। पहले लोग संस्कृत स्वराघात को मूल भारोपीय सा मानते थे, किन्तु अब इस दृष्टि से ग्रीक अधिक समीप मानी जाती है।

वैदिक भाषा में प्रायः सभी शब्दों या पदों पर स्वराघात होता है। कुछ च, वा, इव जैसे शब्द स्वराघातशून्य होते हैं। यों बहुत से ऐसे भी रूप होते हैं जो कुछ स्थितियों में तो स्वराघातयुक्त होते हैं, और कुछ में स्वराघातशून्य। उदाहरणार्थ सम्बोधन का रूप यदि वह वाक्यारम्भ में न हो तो प्रायः स्वराघातशून्य होता है। वैदिक संस्कृत में प्रतिपादिक, समास, संधि, कारकरूप, क्रिया तथा नामधातु आदि के स्वराघात के नियम अलग-अलग हैं।

टर्नर के अनुसार वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों ही स्वराघात था।

रूप-रचना– वैदिक भाषा में लिंग तीन थे : पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। वचन भी तीन थे : एक., द्वि., बहु.। कारक आठ थे : कर्ता सम्बोधन, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण।

विशेष (1) अकारान्त शब्दों को छोड़कर अन्य अपने मूल रूप में ही कर्ता एक. नपुं. में आते हैं। अकारान्त में म् लगता है। (2) सम्बोधन के रूप में केवल स्वरांत स्त्री. पु. एकवचन छोड़कर प्रायः कर्ता के रूपों के समान होते हैं। मन्, अन्, मंत, वंत आदि कई स्वरान्त प्रातिपादिक (पुं. एक.) भी अपवाद हैं।

उपर्युक्त रूपों में अधिकांश मूल भारोपीय-विभक्ति से सीधे आये हैं और प्रयोग एवं रूप की दृष्टि से उनके समीप हैं।

विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह चलते थे।

मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपदिक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलों से भी रूप बनते थे, किन्तु बाद में मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गये।

परिणाम यह हुआ कि मूलतः विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरुष में ही, यद्यपि प्राचीन पंडितों ने 'अस्मद्' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो अह– (अहम), म– (माम्, मया, मम, मम, मयि), आव (आवम्, आवाम् वाम्, आवयोः), वय (वयं), अस्म (अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मे आदि), इन पाँच मूलों पर आधारित रूप हैं। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वनामों के पीछे अनेक मूल-रूपों की परम्परा है। अधिकांश सर्वनामों की परम्परा मूल भारोपीय भाषा तक खोजी गई है। जैसे भारो. से अहम् से तू आदि। सर्वनामों की कारकीय विभक्तियाँ प्रायः संज्ञाओं जैसे ही हैं।

वैदिक भाषा में धातुओं के रूप आत्मने, परस्मै दो पदों में चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी एवं कुछ उभयपदी थीं। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरों के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों एवं तीनों पुरुषों में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के फुल 10 प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है। लट्, लङ्, लुङ्, लुट्, निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ, विध्यर्थ, आदरार्थ, आज्ञार्थ तथा अज्ञार्थ, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक में भविष्य के रूप बहुत कम हैं। उसके स्थान पर प्रायः सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है। क्रिया-रूपों में तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं–1. कुछ रूपों में धातु के पूर्व भूतकरण आगम अ-या-आ आता था। (लङ्, लृङ् में)। 2. धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच, कुछ धातुओं में विकरण जोड़े जाते थे। विकरण के आधार पर धातुओं के दस गण या वर्ग थे। जुहोत्यादि एवं आदिगण विकरण रहित थे, शेष में निम्नांकित विकरण थे–भवादि में उ दिवादि में य, स्वादि में नु, तुदादि में स्वराघातयुक्त अ, रुधादि में न, तनादि में न, क्र् यादि में ना, तथा चुरादि में अय। 3. इच्छार्थक, अतिशयार्थक, लट्, लिट्, लुङ् में द्वित्व का प्रयोग होता है। इसमें महाप्राण के द्वित्व में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है कंठ्य का वर्ग के क्रमानुसार तालव्य हो जाता है, तथा अन्य स्थानों पर प्रायः द्वित्व होता है। यदि ऊष्म से धातु का आरम्भ हो तथा बाद में अघोष ध्वनि हो तो वही ध्वनि फिर आ जाती है, यदि वह महाप्राण हो तो उसका अल्पप्राय हो जाता है, तथा कंठ्य हो तो तालब्यः स्था-तस्था, स्कन्द-चस्कन्द, स्वज्-सस्वज्।

समास–समास रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी में भी थी। वहीं से यह परम्परा वैदिक संस्कृत में आई। वैदिक में समस्त पद प्रायः दो शब्दों के ही मिलते हैं। इससे अधिक शब्दों के समास अत्यन्त विरल हैं। जहाँ तक समास

के रूपों का प्रश्न है, वैदिक में केवल तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुब्रीहि एवं द्वन्द्व ये चार ही समास मिलते हैं। लौकिक संस्कृत के शेष दो बाद में विकसित हुए हैं।

शब्द– वैदिक भाषा में शब्दों की दृष्टि से दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि अनेक तथाकथित मूल शब्द से विकसित या तद्भव शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेदों में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का है। इसका मूल शब्द इध है। पालि 'इध' और अवेस्ता 'इद' इस बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यंजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध' से ही 'ह' बना है।

बोलियाँ–आर्य कदाचित् एकाधिक टोलियों में भारत में आये और इन टोलियों में भी आपस में कुछ भाषित विभिन्नता भी। इसका आशय यह है कि 'आर्य भाषा' के भारत में आने के पहले ही उसमें सच्चे अर्थों में भाषिक एकरूपता नहीं थी। उदाहरण के लिए विद्वानों का विचार है कि मूल भारोपीय के र, ल भारत-ईरानी में प्रायः 'र' ही हो चुके थे, और भारतीय आर्य भाषा में फिर नये सिरे से 'र' अनेक शब्दों में 'ल' में विकसित हो गया। यही कारण है ऋग्वेद में 'लृ' 'र्' की तुलना में बहुत कम मिलता है तथा परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे उसमें वृद्धि हुई है। यों मेरा विचार है कि प्रमुख भारत-ईरानी में तो मूल भारोपीय के र् ल् का विकास 'र्' में हो चुका था, किन्तु उस समय भी कुछ टोलियाँ या बोलियाँ ऐसी थीं, जिनमें 'ल्' पूर्णतः लुप्त नहीं हुआ था। इस प्रकार कुछ दृष्टियों से अनेकरूपताओं ये युक्त भारतीय आर्य भाषा भारत में आई, और यह ज्यो-ज्यों पूर्व की ओर फैलती गई, इसका स्वरूप स्थानीय भाषाओं के प्रभाव के कारण बदलता गया। ब्राह्मण ग्रंथों से इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्य भाषा के कम-से-कम तीन रूप-या तीन बोलियाँ-अवश्य थे : पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। प्रथम अफ गानिस्तान से लेकर पंजाब तक था, दूसरा पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि र्-ल् यों को ही आधार मानें तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्रायः बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्येतर जातियाँ कुछ अपवादों को छोड़कर, वहाँ से भागकर दक्षिण-पूर्व चली गई थीं। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना गया। उसे उस समय 'उदीच्य' या 'उत्तरी' कहते थे। कौशीतकी ब्राह्मण (7–6) में आता है : तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वायुद्यते। उदंच उ एव यन्ति वायं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति, तस्य या शुश्रूषन्त इति। अर्थात्–उत्तर में अधिक विज्ञता, से या प्रामाणिक भाषा बोली जाती है। उत्तर दिशा में ही बोलना सीखने जाते हैं। जो वहाँ से आता है, उससे सुनना चाहते हैं। मध्यदेशीय विशेषतः पूर्वी लोग संयुक्त व्यंजन, स्वराघात, सन्धि में तो गड़बड़ी करते ही थे, साथ ही 'र्' का 'ल्' भी कर देते थे।

शतृपथ ब्राह्मण (3-2-1-23) में कहा गया है : तेऽसुरा आत्तवसचो हेऽलव हेऽलव इति वदन्तः परावभूवुः। पतंजलि ने अपने महाभाष्य (पस्पशान्हिक) में भी इसी को दोहराया है : तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वनः पराबभूवुः। अर्थात् वे असुर 'हे, अरयः' के स्थान पर 'हेलयः हेलयः' उच्चारण करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। यहाँ भी र् लू की ओर संकेत है। इसी प्रकार उधर य् के स्थान पर व् उच्चरित करने की प्रवृत्ति भी थी।

किन्तु भाषा के ये तीन रूप सामान्य लोगों में थे। पण्डितों की भाषा एक सीमा तक परिनिष्ठित थी, और उपलब्ध वैदिक साहित्य में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः उसी का साहित्यिक रूप मिलता है।

पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक भाषा—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रथम रूप वैदिक के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप ऋग्वेद के प्रथम एवं दसवें मंडल को छोड़कर अन्य मण्डलों तथा अन्य प्राचीन ऋचाओं आदि की भाषा में है तथा दूसरा उक्त दो मण्डलों में, अन्य वेदों में के परवर्ती भागों में तथा आरण्यकों, उपनिषदों आदि में। वैदिकी के इन दोनों रूपों में प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं—

1. टवर्गीय 'याँ' पूर्ववर्ती में बहुत कम हैं पर परवर्ती में उनका अनुपात बढ़ गया है। 2. पूर्ववर्ती र् का प्रयोग अधिक है, किन्तु परवर्ती में ल् का प्रयोग भी पर्याप्त है। ऐसे शब्द भी हैं, जिनमें पूर्ववर्ती वैदिकी में र् है तो परवर्ती में ल्—रोमन्—लोमन्, म्रुच-म्लुच। 3. यह संकेत किया जा चुका है कि वैदिकी में प्राचीन घ्, ध्, भ् आदि महाप्राणों का 'ह' हो रहा था। यह प्रवृत्ति इस काल में भी काम कर रही थी। इसीलिए महाप्राणों के स्थान पर 'ह' पूर्ववर्ती भाषा में कम मिलता है, किन्तु परवर्ती में अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणार्थ प्राचीन वैदिक गृभाण, परवर्ती वैदिक संस्कृत गृहाण। इसी प्रकार पूर्ववर्ती आज्ञार्थ—घि (तिङ् प्रत्यय) के स्थान पर परवर्ती में हि मिलता है।

व्याकरण—व्याकरणिक दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नाम एवं धातु के रूपाधिक्य एवं अपवाद परवर्ती में बहुत कम हो गये हैं, और परवर्ती की भाषा वैदिकी को छोड़कर लौकिक संस्कृत की ओर बढ़ती चली आ रही है। पूर्व वैदिकी में देवाः देवैः के अतिरिक्त देवासः, देवेभिः रूप भी हैं, किन्तु परवर्ती में देवासः, देवेभिः रूप भी हैं, किन्तु परवर्ती में देवासः, देवेभिः जैसे रूप अत्यन्त विरल हो गये हैं। 'अश्विना' जैसे द्विवचन रूप भी परवर्ती में प्रायः नहीं मिलते। पुराने कृणुमः जैसे रूपों के स्थान पर परवर्ती में कुर्मः जैसे रूप मिलते हैं। यह वस्तुतः ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण हुआ है। 'नु विकरण में न् के लोप के कारण' 'उ' रह गया है। अन्य भी इस प्रकार के अनेक रूपीय अन्तर हैं।

शब्द—शब्दों के क्षेत्र में सबसे प्रमुख बात यह हुई कि अनेक पूर्ववर्ती शब्द समाप्त हो गए, और वे परवर्ती वैदिकी में नहीं मिलते। ईम, वीति, विचर्षणि ऐसे ही शब्द हैं। इसके विरुद्ध परवर्ती वैदिकी में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होने लगे जो पूर्ववर्ती में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त यों तो पूर्ववर्ती वैदिकी में भी, आरिस्ट्रक, द्रविड़ आदि शब्द आ गये थे, किन्तु उसकी संख्या अत्यल्प थी, पर परवर्ती वैदिकी में उनकी संख्या अपेक्षाकृत बढ़ गई।

ऊपर जो बातें पूर्ववर्ती वैदिकी की तुलना में परवर्ती वैदिकी में कही गई हैं, परवर्ती वैदिकी या वैदिकी की तुलना में लौकिक संस्कृत या संस्कृत में भी प्रायः उन्हीं का आधिक्य मिलता है।

संस्कृत—इसे 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लैसिकल संस्कृत' भी कहते हैं। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वैदिक काल में भाषा के तीन भौगोलिक रूपों—उत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी—का उल्लेख किया जा चुका है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रामाणिक मानी जाती थी। पाणिनी ने अन्यों के भी कुछ रूप आदि लिए हैं और उन्हें वैकल्पिक कहा है। इस प्रकार मध्यदेशी तथा पूर्वी का भी संस्कृत पर कुछ प्रभाव है। लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा है, अतः जिस प्रकार हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की गद्य या पद्य भाषा को बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते, उसी प्रकार संस्कृत को भी बोलचाल की भाषा नहीं कह सकते। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार प्रसाद जी की भाषा का आधार परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी है, जो बोलचाल की भी भाषा है, उसी प्रकार पाणिनीय संस्कृत भी तत्कालीन पण्डित समाज की बोलचाल की भाषा पर ही आधारित है। पाणिनी द्वारा उसके लिए 'भाषा' (भाष् = बोलना) शब्द का प्रयोग, सूत्र 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' दूर से बुलाने में 'प्लुत' के प्रयोग का उनके द्वारा उल्लेख, बोलचाल के कारण विकसित संस्कृत को व्याकरण की परिधि में बाँधने के लिए कात्यायन द्वारा वार्तिकों की रचना, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी। अतः हार्नले, वेबर, ताकि, ग्रियर्सन आदि पश्चिमी विद्वानों का यह कथन कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, निराधार है। संस्कृत, भारतीय भाषाओं (आर्य तथा आर्येतर) की जीवनमूल तो रही है, साथ ही तिब्बती, अफगानिस्तानी, चीनी, जापानी, कोरियाई, सिंहली, बर्मी तथा पूर्वी द्वीप-समूह की भी अनेकानेक भाषाओं को इसने अनेक-विशेषतः शाब्दिक-स्तरों पर प्रभावित किया है।

ऊपर वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषताएँ उल्लिखित हैं। लौकिक संस्कृत उससे मूलतः बहुत अधिक भिन्न नहीं है। इसलिए इसकी सभी विशेषताओं के

विस्तार से अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल वैदिक और लौकिक संस्कृत में अन्तरों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर

कारण–दोनों में अन्तर के प्रमुख कारण ये हैं–

1. वैदिक भाषा का बहुत कुछ स्वरूप बाहर से बनकर आया था, और उसमें यहाँ जो कुछ परिवर्तन हुए थे भारतीय वातावरण, समाज एवं आर्येतर भाषाओं के तुरंत पड़े हुए प्रभाव से ही उत्पन्न थे, किन्तु संस्कृत भाषा के बनने तक ये प्रभाव बहुत गहरे पड़ चुके थे और उन्होंने संस्कृत भाषा की पूरी व्यवस्था को प्रभावित किया।

2. यहाँ आने पर आर्यों ने नागरिक सभ्यता, द्रविड़ों से अपनाई, अतः जीवन में अधिक एकरूपता आई, व्यवस्था बढ़ी। इसका प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा और उसमें भी एकरूपता आई।

3. नागरिक जीवन में नियमित पठन-पाठन एवं साहित्य-रचना को प्रोत्साहन मिला, इससे भाषा को एक परिनिष्ठित रूप देना पड़ा। परिणामतः भाषा में परिनिष्ठन आया, अपवाद निकल गए, किन्तु साथ ही उसमें शिष्ट जीवन की कृत्रिमता की गन्ध भी आ गई।

4. समाज के विकास के साथ-साथ चिन्तन एवं ज्ञान-परिधि में विस्तार हुआ, भाषा का नियमित अध्ययन-विश्लेषण होने लगा, व्याकरण लिखे जाने लगे, लोगों ने सरलता तथा विचारों की सफल अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से भाषा की एकरूपता, नियमितता के महत्व को समझा, अतः पूर्ववर्ती भाषा की जटिलताएँ धीरे-धीरे अपने-आप छँट गईं।

5. यों तो विकास आर्येतर प्रभावों, आर्येतर लोगों द्वारा उनका ठीक उच्चारण न किए जाने एवं सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण हुआ।

6. शब्दों में परिवर्तन का कारण था, पुराने जीवन से आगे बढ़ने के कारण शब्दों का छूट जाना तथा नए जीवन की अभिव्यक्ति की पूर्ति के लिए नए शब्दों का आगमन। लौकिक संस्कृत में ये नए शब्द कुछ तो द्रविड़, आस्ट्रिक आदि भारतीय भाषाओं के से लिए गए, कु आवश्यकतानुसार ईरानी, ग्रीक या अरबी आदि से आए तथा कुछ व्याकरण के नियमों या भ्रामक व्युत्पति के आधार पर बन गए या बनाए गए।

अन्तर–जैसा कि पीछे भी संकेत किया जा चुका है, इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वैदिक भाषा का, लौकिक की तरह परिनिष्ठीकरण नहीं हुआ था, इसी कारण लौकिक, जिस रूप में परिनिष्ठित एवं साहित्यिक है, वैदिक नहीं है।

वैदिक अपने साहित्यिक रूप में भी संस्कृत की तुलना में जनभाषा कहलाने की अधिक अधिकारिणी है। इस स्थिति का प्रभाव दोनों के व्याकरण पर भी पड़ा है। वैदिक में जहाँ परिनिष्ठीकरण एवं नियमन कम होने से रूप की जटिलताएँ हैं, अनेकरूपताओं एवं अपवादों का आधिक्य है, लौकिक में वे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो वैदिक की तुलना में बहुत ही कम। दूसरे शब्दों में वैदिक भाषा अपने बोलने वालों की तरह ही अधिक स्वच्छन्द है, किन्तु लौकिक अपने अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत एवं नियमित समाज की तरह नियमबद्ध है, एकरूप है, इसी कारण पहली अधिक कठिन है तो दूसरी उसकी तुलना में अधिक सरल है। दोनों के प्रमुख अन्तरों को कुछ शीर्षकों के अंतर्गत विस्तारपूर्वक भी देखा जा सकता है, जैसे—ध्वनि, स्वराघात, संधि, समास, कारक, विभक्ति, कृत-प्रत्यय, क्रिया-रचना एवं शब्दों आदि के द्वारा।

5

ध्वनियंत्रों का परिचय

ध्वनियंत्रों (वाद्ययंत्र) का परिचय

ध्वनि (स्वन) के अध्ययन के सम्बद्ध शास्त्र या विज्ञान के लिए अंग्रेजी में आज प्रमुखतः फ नेटिक्स और फ नॉलॉजी ये दो शब्द चल रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'फोन' से है, जिसका अर्थ 'ध्वनि' है। 'टिक्स' और 'लॉजी' प्रयोगतः 'विज्ञान' के समानार्थी है। इस प्रकार दोनों ही एक प्रकारा से ध्वनि के विज्ञान है, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें थोड़ा अन्तर है। 'फ नेटिक्स' में हम सामान्य रूप से ध्वनि की परिभाषा, भाषा-ध्वनि, ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से चलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं। साथ ही भाषा-विशेष की ध्वनियाँ, उनका उच्चारण तथा वर्गीकरण आदि भी इसी के अन्तर्गत आता है। 'फ नॉलॉजी' में भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था, इतिहास तथा परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। यों ध्वनि के अध्ययन के ये दो प्रमुख विभाग तो हैं, किन्तु इनके लिए क्रमशः 'फ नॉलॉजी' इन दो पारिभाषिक नामों का जो प्रयोग किया गया है, वह सार्वभौम नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो उन्हें इस रूप में माना है, किन्तु अन्यों का प्रयोग इससे भिन्न भी है। कुछ लोग दोनों अर्थों में फ नेटिक्स' का ही प्रयोग करते हैं तो कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के वर्णनात्मक रूप को एककालिक 'फ नेटिक्स' कहते हैं और ऐतिहासिक रूप को 'हिस्टॉरिकल फ नेटिक्स' या कुछ अन्य लोग 'फ नॉलॉजी' के अन्तर्गत ही सभी को स्थान देते हैं। कुछ लोग 'फ नेटिक्स' और 'फ नॉलॉजी' को पर्याप्त के रूप में भी प्रयोग करते रहे हैं, यद्यपि अब ऐसा प्रायः नहीं हो रहा है। आजकल प्रायः 'फ नेटिक्स' का प्रयोग ध्वनि के भाषा-निरपेक्ष अध्ययन के लिए किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से ध्वनियों का उच्चारण, वर्गीकरण आदि आते हैं, तो फ नॉलॉजी

का प्रयोग भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था के लिए।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' था। हिन्दी में इस प्रसंग में 'फ   नेटिक्स' के लिए मुख्यतः ध्वनिविज्ञान, ध्वनिशास्त्र अथवा स्वनविज्ञान आदि तथा 'फोनॉलॉजी' के लिए ध्वनि-प्रक्रिया, स्वन-प्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हो रहे हैं। एकरूपता की दृष्टि से फोनेटिक्स के लिए ध्वनिविज्ञान या स्वनविज्ञान और फोनॉलॉजी के लिए ध्वनिप्रक्रिया, स्वनप्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है।

ध्वनि-अध्ययन के आधार

इसके तीन आधार हैं—उच्चारण, प्रसरण या संवहन तथा श्रवण। इसी आधार पर ध्वनिविज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी जाती हैं—

1. औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान—जिसमें उच्चारण और उससे संबद्ध बातों का अध्ययन होता है।

2. सांवहनिक या प्रासारणिक ध्वनिविज्ञान—जिसमें उच्चारण के फलस्वरूप बनने वाली ध्वनि-लहरों का अध्ययन होता है। इस अध्ययन में प्रायः काइमोग्राफ, स्टेक्टोग्राफ, ऑसिलोग्राफ आदि यंत्रों से सहायता ली जाती है।

3. श्रावणिक ध्वनिविज्ञान—इसमें ध्वनियों के सुने जाने का अध्ययन होता है।

स्पष्ट ही पहली शाखा का संबंध बोलने वाले से, तीसरी का सुनने वाले से, और दूसरी का ध्वनियों की वाहिनी तरंगों, उनके स्वरूप तथा गति आदि से, अर्थात् दोनों शाखाओं के बीच की स्थिति से है।

औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान

ध्वनियों के उच्चारण वाग्यंत्र से होता है जिसे उच्चारण अवयव भी कहते हैं—

1. उपालिजिह्व
2. भोजन-नलिका
3. स्वर-यंत्र
4. स्वरयंत्र-मुख
5. स्वर-तंत्री
6. स्वरयंत्र-मुख आवरण
7. नासिका-विवर
8. मुख-विवर
9. अलिजिह्व

10. कंठ
11. कोमल तालु
12. मूर्द्धा
13. कठोर तालु
14. वर्त्स्य
15. दाँत
16. ओष्ठ
17. जिह्वामध्य
18. जिह्वानोक
19. जिह्वांग
20. जिह्वा
21. जिह्वापश्च
22. जिह्वामूल

चल अवयव—इन अवयवों को ऊपर उठाकर या नीचे ले जाकर ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। इन्हीं को करण भी कहते हैं। नीचे का ओष्ठ, जीभ और उसके विभिन्न भाग तथा स्वरतंत्रियाँ इस वर्ग में आती हैं। नीचे के ओष्ठ तथा जीभ मुँह में नीचे के भाग हैं, अतः उनके आधार पर कभी-कभी केवल निचली स्वरतंत्री को ही करण कहते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों ही स्वरतंत्रिका चल होने के कारण करण का कार्य करती हैं, साथ ही ये उच्चारण-स्थान भी है।

अचल अवयव—ऊपर के दाँत, ऊपर का ओष्ठ, तालु के विभिन्न भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। ये चल नहीं हैं। इनके स्थान का बोध होता है। अलिजिह्वया कौवे की स्थिति कुछ अजीब है। यों तो यह चल अवयव है, किन्तु मुँह में ऊपर है और ऊपर के अवयव अचल है। अतः स्थान-संकेतक है, इसीलिए इसे भी प्रायः उन्हीं की श्रेणी में रखा जाता है।

श्वास-नलिका, भोजन-नलिका और अभिकल—हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखलाया गया है। साँस श्वास-नलिका में होती हुई फेफड़े में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वास-नलिका के पीछे भोजन-नलिका है जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों नलिकाओं के बीच में दोनों पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है जिसे अभिकाकल या स्वर-यंत्रमुख-आवरण

कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नलिका के मुख के पास आता है तो यह अभिकाकल नीचे की ओर नीचे की ओर झुककर श्वास-नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नलिका में चला जाता है। यदि श्वास-नलिका बन्द न हो तो जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नलिका में चले जायें और मनुष्य की तुरन्त ही मृत्यु हो जाये। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण जब अन्न के एक-आधे टुकड़े श्वास-नलिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी 'सरक' जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नलिका को खुला रखना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह से होते भोजन-नलिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर से होते हुए श्वास-नलिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्क प्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं, पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाम से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिक आ जाती है, जो शायद इसी बात को प्रदर्शित करता है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी अधिक प्रकृत या स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्रमुख और स्वर-तंत्री-श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे ध्वनि-यंत्र या स्वरयंत्र कहते हैं। बाहर गले में जो उभरी घाँटी दिखाई देती है, वह यही है। यहाँ श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। स्वर-यंत्र झिल्ली के बने दो लचीले परदे या कपाट होते हैं जिन्हें स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। वस्तुतः इनका यह नाम उचित नहीं है। ये ओष्ठ-जैसे होते हैं। अतः इन्हें 'स्वर-ओष्ठ' कहना अधिक सही है। इन परदों, स्वर-तंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच के खुले भाग को स्वर-यंत्रमुख या काकल कहते हैं। साँस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मुख से होकर बाहर-भीतर जाती है। इन स्वर-तंत्रियों का मूल या प्राकृतिक काम है—बोझ उठाते

समय या इसी प्रकार के अन्य कामों के समय हवा को रोककर हमारी शक्ति और हिम्मत को अपेक्षाकृत बढ़ावा देना। किन्तु अब बोलने में जो निश्चय ही कृत्रिम या बाद में विकसित है--हम इन स्वर-तंत्रियों के सहारे कई प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। ऐसा करने के लिए स्वर-तंत्रियों का कभी तो एक-दूसरे के समीप लाना पड़ता है और कभी दूर रखना पड़ता है। जो लोग रुक-रुककर बोलते या हकलाते हैं, वे किसी शारीरिक या मानसिक कमी के कारण इन स्वर-तंत्रियों को आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में खोल या बंद करने में असमर्थ होते हैं।

स्वर-तंत्रियों के इस प्रकार समीप आने या दूर हटने से कई प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत सूक्ष्मता से देखा जाए तो इन स्थितियों की संख्या लगभग एक दर्जन हैं जिसमें अधिक महत्वपूर्ण निम्नांकित हैं--

1. स्वर-तन्त्रियाँ एक-दूसरी से सबसे अधिक दूर 'श्वास लेने' की स्थिति में होती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वर-यंत्रमुख की स्थिति में और बहुत अधिक चौड़ा होता है।
2. दूसरी स्थिति है प्रश्वास की। साँस निकालते समय स्वर-तंत्रिका श्वास लेते समय की तुलना में एक-दूसरे के निकट होती है और इस प्रकार स्वर-यंत्रमुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यंत्रमुख लगभग त्रिभुजाकार होता है। ऐसी स्थिति में जो प्रश्वास निकलता है, स्वर-तंत्रियों से घर्षण नहीं करता। 'अघोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है।
3. तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरी के और भी निकट जा जाती हैं। अब ये इतनी निकट होती हैं कि उनके बीच से जाने वाली हवा को रगड़कर खाकर निकलना पड़ता है। रगड़ के कारण ही स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। 'घोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इस स्थिति में स्वरयंत्रमुख बहुत संकीर्ण हो जाता है और नीचे-ऊपर के किनारों के बन्द होने के कारण लम्बाई में भी वह छोटा हो जाता है। इस स्थिति में भी कभी तो स्वर-तंत्रियाँ कम कड़ी रखी जाती हैं और कभी अधिक। इस प्रकार कभी उनके बीच से हवा कम तेज निकलती है और कभी अधिक। इन बातों पर तन्त्रियों का कम्पन्न निर्भर करता है और इस कम्पन्न के स्वरूप और तेजी पर ध्वनि का आयतन, उनकी तीव्रता तथा स्वर आदि निर्भर करते हैं। सामान्य बोलचाल में पुरुषों में स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति 109 से 163 चक्र प्रति सेकेण्ड तथा स्त्रियों में 218 से 326 चक्र प्रति सेकेण्ड होती हैं। यों यह कम-से-कम 42 चक्र प्रति सेकेण्ड तथा अधिक-से-अधिक 2048 चक्र प्रति सेकेण्ड हो सकती है। संगीतज्ञ, अभिनेता और अच्छे वक्ता में

भावावेश आदि के अनुसार यह कम्पन्न सामान्य से बहुत अधिक देखा जाता है। 19 मई, 1943 ई. को चर्चिल का वाशिंगटन में भाषण हुआ था। उनके रिकार्ड का विश्लेषण करने पर पता चला कि भाषण से अधिकांश अंशों में उनकी तन्त्रियों की गति 115 से 230 के बीच में थी।

4. चौथी स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ अपने लगभग तीन-चौथाई भाग में तो एक-दूसरी से मिलकर हवा का मार्ग पूर्णतः बन्द कर देती हैं। कोने का केवल एक-चौथाई भाग ही स्वर-यंत्रमुख के रूप में खुला रहता है। इसी स्थिति में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण होता है। इस ध्वनि को 'जपित', 'जाप', 'फुसफुस' या 'उपांशु' भी कहते हैं। जब दो मित्र आपस में धीरे-धीरे बात करते हैं, तो इसी प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। स्वर-यन्त्रमुख के बहुत छोटा हो जाने के कारण ध्वनि धीमी हो जाती है। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। वस्तुतः जपित ध्वनि के उत्पन्न होने की यह एक स्थिति है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अन्य स्थितियाँ भी होती हैं—

(क) कभी-कभी इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियाँ ठीक उसी स्थिति में होती हैं जिस स्थिति में वे घोष ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं। पर साथ ही गले की माँसपेशियों को बहुत कड़ा रखकर स्वर-तन्त्रियों में इतना तनाव ला दिया जाता है कि हवा के घर्षण से वे कम्पित नहीं होतीं और इस प्रकार उनसे जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जपित होती हैं।

(ख) स्वर-तंत्रियों के ऊपर वही दूसरी स्वर-तन्त्रियाँ भी होती हैं जिन्हें मिथ्या या कृत्रिम स्वर-तंत्रियाँ कहते हैं। वे असली स्वर-तन्त्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि असली स्वर-तन्त्रियाँ तो दूर-दूर रहती हैं, किन्तु ऊपर की तंत्रियाँ निकट आकर हवा के रास्ते को बहुत छोटा कर देती हैं। और इस स्थिति में भी 'जपित' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

(ग) कभी-कभी स्वर-तंत्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, लेकिन उनके बीच से आने वाली हवा बहुत थोड़ी और बहुत धीमी हो, तब भी फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

(घ) एक चौथी स्थिति यह भी मानी जाती है जब स्वर-तंत्रियाँ न तो अघोष की स्थिति में बहुत खुली होती हैं और न घोष की स्थिति में काकल को इतना सँकरा बना देती हैं कि हवा रगड़ से निकले। यह स्थिति

घोष-अघोष के बीच की है तथा असामान्य है।

(ङ) बिथेल आदि कुछ ध्वनिशास्त्रियों ने एक ऐसी स्थिति भी मानी है जब दोनों ही स्वर-तंत्रियाँ अधिकांशतः बन्द होकर हवा को रोकती हैं और केवल दोनों का एक-एक अंश ही खुला रहता है। जब बहुत फटी-फटी आवाज सुनाई पड़ती है, तब भी यही स्थिति रहती है। ध्वनिविदों के अनुसार यह स्थिति देर तक नहीं रखी जा सकती।

5. एक अन्य स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्णतः सटी रहती हैं और हवा का रास्ता पूर्णतः बन्द हो जाता है। इसी स्थिति में रहकर झटके के साथ स्वर-तंत्रियाँ अलग हो जाती हैं तो काकल्य स्पर्श, अलिफ , नाम की ध्वनि उच्चरित होती है जिसके लिए पी चिह्न का प्रयोग किया जाता है। भारतीय भाषाओं में यह मुंडारी में मिलती है। कुछ अफ्रीकी, हिब्रू, डच, जर्मन में यह ध्वनि सामान्य है। यह हल्की खाँसी में मिलती-जुलती ध्वनि है। अंग्रेजी में कभी-कभी जोर देकर बोलने में इज के उच्चारण में इ के पहले यह ध्वनि सुनाई पड़ती है।

6. छठे प्रकार की स्थिति में स्वर-तंत्रियों को लगभग तीन-चौथाई भाग तो लगभग घोष की स्थिति में होता है और शेष एक-चौथाई काफी खुला घोष ध्वनि स्थिति में उच्चरित होती है।

7. सातवें प्रकार की स्थिति घोष वाली स्थिति ही है किन्तु यह अलग इसलिए है कि स्वर-तंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें इतनी होती हैं जिसके कारण कम्पन्न अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित-जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होती। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कम्पन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़ जैसी एक आवाज भी होती है।

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों और मिथ्या स्वर-तंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है जहाँ प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ, अर्थात् पूरा स्वर-यंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ्रीका की कई-भाषाओं में पायी जाने वाली अंतर्मुखी या अंतःस्फोट ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा-स्वर-यंत्र के ऊपर उसका ढक्कन होता है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर यह स्थान आता है जिसे हम चौराहा कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है, जहाँ से चार मार्ग 1. श्वास-नलिका, 2. भोजन-नलिका, 3. मुख-विवर और 4. नासिक-विवर। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का माँस का छोटा-सा भाग उस स्थान पर होता है, जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को 'कौवा' या अलिजिह्वा कहते हैं। इसका भी कार्य कोमल वस्तु के साथ अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा को कोमल तालु के साथ हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है, मुँह बन्द रहता है और श्वास अबाध गति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए कहते हैं, तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है।

दूसरी अवस्था में कौवा तनकर नाक के रास्ते को बन्द कर देता है और श्वास-नलिका से आयी हवा को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुख-विवर से आती-जाती है। मौखिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

तीसरी और अन्तिम अवस्था उस समय की है जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुख-विवर को। वह मध्य में रहता है। अतः श्वास नासिका और मुख दोनों से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में दूसरी और तीसरी में कौवा भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में बहुत सहायक होता है, क्योंकि अधिकांश ध्वनियाँ इन्हीं दो प्रकारों की होती हैं। किन्तु यह तो कौवे का सामान्य कार्य है जिसकी आवश्यकता अधिकांश भाषाओं में होती है। कुछ भाषाओं में यह विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में प्रत्यक्षतः भी सहायक होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ अलिजिह्वीय कहलाती हैं। इनके उच्चारण में कौवा या तो जिह्वापश्च से स्पर्श करके स्पर्श-ध्वनि उत्पन्न करता है, या एस्किमों भाषा का अनुनासिक स्पर्श उत्पन्न करता है, या उसके समीप होकर संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है, या फिर उत्क्षेप या कुंठन करके फ्रांसीसी 'रा' ध्वनि उत्पन्न करता है।

तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ-कौवे के एक ओर नासिका-विवर है और दूसरी

ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई भी ऐसी अंग नहीं है जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से 4 भाग हो सकते हैं–1. कोमल तालु, 2. मूर्द्धा, 3. कठोर तालु तथा वत्सर्स। चिह्वा के विभिन्न भागों को इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।

मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। जिह्वा उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसके पर्याय 'वाणी', 'जबान' आदि भाषा के पर्याय बन गये हैं। प्रायः सभी भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ जीभ की सहायता से ही बोली जाती हैं। साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने में वायु-अवरोध या विशेष आकृति का गूँज-विवर बनाने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

कभी-कभी इनके 'जिह्वोपाग्र' आदि अन्य अवांतर भेद भी किये जाते हैं। ध्वनि-उच्चारण में इन सभी भागों का अलग-अलग महत्व साथ ही अभिकाकल कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सबका सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के प्रसंग में मिलेगा। जीभ, दाँत तथा तालु के विभिन्न भागों को छूकर या उनके समीप आकर या उत्क्षेप लोड़न आदि करके ध्वनियों का निर्माण करती है।

मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी 1. मूल और 2. अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।

कभी-कभी दोनों के बीच में एक मध्य भाग भी मानने की आवश्यकता पड़ती है। ध्वनि-निर्माण में ऊपर के दाँतों का ही अधिक महत्व है। ये नीचे के ओष्ठ या जीभ से मिलकर या उनके समीप होकर ध्वनि-निर्माण करते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम ओष्ठ हैं। ये आपस में मिल या पास आकर या दाँत की सहायता से ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं।

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते है?– हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु दो प्रकार की है। एक तो वह है जो नाक या मुँह के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ हवा होती है। इस शुद्ध हवा से, दुःख है कि, हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित नहीं

कर पाते हैं। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि की ध्वनियाँ तथा अफ ीका, अमरीका आदि की कुछ क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा काम दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेफड़े की गन्दगी साफ करके बाहर निकालती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा की संसार की प्रायः सभी भाषाओं के बोलने में हमारी सहायता करती है। पहली हवा 'श्वास' है दूसरी 'प्रश्वास'।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास-नलिका के पथ से बाहर चलती है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वर-तंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चलकर आवश्यकतानुसार नासिका-विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा का हम आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु, दाँत, और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं जो बाहर आकर ध्वनि संबंध को संभाल पाती है। साथ ही आवश्यक होने पर इसके एक अंश को नासिका-विवर से निकालते हैं।

संवहनिक अथवा प्रासरणिक ध्वनिविज्ञान

भौतिकी में इसे केवल ध्वनिविज्ञान कहते हैं। मैंने इसे इस आधार पर यह नाम दिया है कि भाषा विज्ञान में इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि कैसे ध्वनि लहरों द्वारा वक्ता के मुँह से श्रोता के कान तक ले जायी जाती है। ऐसा होता है कि फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों की सक्रियता के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन्न से लहरें पैदा कर देती है। ये लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पन्न पैदा करती हैं। ज्यों-ज्यों ये लहरें बढ़ती जाती हैं, इनकी तीव्रता घटती जाती है। इसी कारण दूर के व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है। अनेक यंत्रों के सहारे भौतिकशास्त्र में इन लहरों का बहुत गम्भीर अध्ययन किया गया है, किन्तु भाषा विज्ञान में उसकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं है।

श्रावणिक धनिविज्ञान

इसमें इस बात का अध्ययन होता है कि हम कैसे सुनते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में कान की बनावट को देख लेना होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा होता है। जिसको क्रम से बाह्य कर्ण, मध्यवर्ती कर्ण और अभ्यन्तर कर्ण कह सकते हैं। बाह्य कर्ण के भी दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष महत्व नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से कोई विशेष

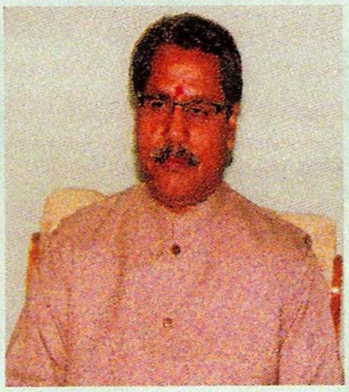
महत्व नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से आरम्भ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नलिका की लम्बाई लगभग एक इंच होती है। नलिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती है।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी-सी कोठरी है जिसमें तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर इसका सम्बन्ध आभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है। इसके पीछे अभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि-समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं। ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली पर कम्पन्न उत्पन्न करती हैं। इस कम्पन्न का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतर कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि, हवा तथा अन्य संबद्ध अणुओं में कम्पन्न-रूप में होती है। यह कम्पन्न प्रति सेकेण्ड 'फ्रीक्वेन्सी' या 'आवृत्ति' कहलाता है। यह आवृत्ति कम या अधिक हो सकती है। सामान्यतः आदमी का कान कुछ से लेकर 20,000 आवृत्ति तक की ध्वनि सुन सकता है। किन्तु साफ और समझने लायक यह केवल 90 से 10,000 तक ही सुन सकता है। सुनने की दृष्टि से काफी साफ आवाज केवल 200 से 2000 के बीच में मानी गयी है और बहुत ही साफ 1000 से 2000 के बीच।

ध्वनि क्या है?

किसी भी वस्तु से किसी भी तरह का कुछ ऐसा हो जो सुना जा सके, उसे सामान्यतया 'ध्वनि' कहते हैं। पानी में मछली के कूदने से या किसी के सिर पर डंडा मारने से जो भी आवाज होगी, उसे ध्वनि कहेंगे। इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि वायुमंडलीय दबाव में परिवर्तन या उतार-चढ़ाव का नाम है। यह परिवर्तन वायुकणों के दबाव तथा विरलन के कारण होता है। भाषा के प्रसंग में या भाषाविज्ञान में जिस ध्वनि का विचार किया जाता है, वह इतनी व्यापक नहीं है। सामान्य ध्वनि से अलग करने के लिए उसे 'भाषाध्वनि' या वाक्स्वन संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'भाषा-ध्वनि' भाषा में प्रयुक्त ध्वनि की वह लघुतम इकाई है जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तित्व हो। संक्षेप में भाषा में प्रयुक्त ध्वनि नहीं भाषा-ध्वनि है। प्रायः सर्वत्र संक्षेप और प्रचलन की दृष्टि से 'भाषा-ध्वनि' के स्थान पर केवल ध्वनि शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।



प्रो. योगेश चन्द्र दुबे

जन्म : 1 मार्च, 1960, ग्राम–मैनसिल (गुलजारगंज) जौनपुर (उ.प्र.) के यशस्वी माता-पिता–श्रीमती सावित्री देवी–पं. श्री वंशराज दुबे के आँगन में पल-बढ़कर बड़ा हुआ।

शिक्षा : एम. ए., डी. फिल्., डिपू (लिंग्विस्टिक्स), डी. लिट्. (मानद)

प्रकाशित ग्रंथ : (1) रामायणमंजरी का साहित्यिक अनुशीलन, (2) सूक्ति सुधा, (3) बीसवीं शती के प्रमुख संस्कृत महाकाव्यों में चित्रित भारतीय स्वाधीनता संग्राम, (4) ग्राम्य गीतांजलि–(गीत काव्य) (5) हनुमानधारा (खण्डकाव्य), (6) रामकथामंदाकिनी (शोध-निबंध संग्रह), (7) ईशावास्योपनिषद् (सारस्वती टीका), (8) भाषाविज्ञान की रूपरेखा, (9) विकलांग दर्शन, (10) महाकवि स्वामी रामभद्राचार्य जी का संस्कृत वाङ्मय को अवदान।

अध्यापन : सन् 1987 से संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अध्यापन यात्रा प्रारंभ कर महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.) में यशस्वी शिक्षक के रूप में विख्यात होकर जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ. प्र.) में 1 अगस्त 2001 से संस्कृत आचार्य एवं विभागाध्यक्ष तथा कला संकाय के अधिष्ठाता के रूप में पदस्थ।

प्रशासनिक अनुभव : कुलपति, प्रति कुलपति, कुलसचिव, अधिष्ठाता, विभागाध्यक्ष, प्रभारी आचार्य पुस्तकालय, मुख्य कुलानुशासक, छात्र कल्याण अधिष्ठाता एवं शोध निदेशक आदि विभिन्न शैक्षणिक एवं प्रशासनिक पदों पर कार्यानुभव।

पुरस्कार : अलंकरण : साहित्य कला शिरोमणि, साहित्य महोपाध्याय, अवध भारती भूषण, तुलसी भारती समलंकरण, कवि रत्न, सर्वश्रेष्ठ शिक्षक सम्मान, राष्ट्रीय शिक्षा रत्न, पूर्वांचल विद्वद्-रत्न, अक्षय गौरव सम्मान, साहित्य रत्नाकर, शताब्दी सम्मान, हेल्प यू अवार्ड, उ.प्र. रत्न सम्मान आदि।

सम्प्रति : कुलपति, जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) पिन-210204

स्थायी निवास : 'सारस्वतम्' संत कबीर मार्ग, जानकीकुण्ड, चित्रकूट (उ.प्र.) पिन-210204

मोबाइल : 09452032221, 07509687119

ई-मेल : profyogeshdubey@gmail.com.